योगके आधार

(BASES OF YOGA)

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द-ग्रन्थमाला
१६, र्‍यू देबासैं द् रिशमों
16, Rue desbassain de Richemont,
पांडीचेरी (Pondicherry)

विषय-सूची

योगके आधार

स्थिरता

शान्ति

समता

यदि मन चंचल है तो योगकी नींव डालना संभव नहीं। पहली आवश्यकता है कि मन अचंचल हो। व्यक्तिगत चेतनाको लीन कर देना भी योगका पहला लक्ष्य नहीं है। पहला लक्ष्य है इस चेतनाको उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाकी ओर खोल देना और इसके लिये भी जिस बातकी सबसे पहले आवश्यकता है वह है मनकी अचंचलता।

*

*   *

पहली बात जो साधनामें करनी है वह है मनमें एक स्थायी शान्ति और निश्चल-नीरवताको स्थापित करना। अन्यथा तुम्हें अनुभूतियां हो सकती हैं पर कुछ भी स्थायी प्राप्ति न होगी। निश्चल-नीरव मनमें ही यह संभव है कि वहां सत्य-चेतनाका निर्माण किया जा सके।

अचंचल मनसे यह मतलब नहीं कि उसमें कोई विचार अथवा कोई मनोमय गतियां होंगी ही नहीं,

बल्कि यह कि ये सब ऊपर ही ऊपर रहेंगी और तुम अंदरकी अपनी सत्य सत्ताको इनसे अलग अनुभव करते रहोगे, मनके इन विचारों और गतियोंको देखते रहोगे पर उनके प्रवाह में बह नहीं जाओगे, तुममें यह योग्यता होगी कि तुम उनका निरीक्षण करो और निर्णय करो तथा जो कुछ त्याग करने योग्य हो वह सब त्याग करो एवं जो कुछ सत्य चेतना और सत्य अनुभूति हो उस सबको स्वीकार कर धारण करो।

मन निष्क्रिय रहे यह अच्छा है, पर इस बातका ध्यान रखो कि तुम केवल सत्यके सामने तथा भागवत शक्तिके जो संस्पर्श मिलते हैं उनके सामने ही निष्क्रिय होते हो। यदि तुम निम्न प्रकृतिद्वारा सुझाई हुई बातों तथा उसके प्रभावोंके सामने निष्क्रिय हो जाओगे, तो या तो आगे नहीं बढ़ सकोगे या अपने-आपको उन विरोधी शक्तियोंके सामने उघाड़ दोगे, जो तुम्हें योगके सत्य मार्गसे बहुत दूर ले जा सकती हैं।

मातासे चाहो कि वे तुम्हारे मनमें इस स्थायी शान्ति और अचंचलताकी स्थापना करें और तुम्हारे अन्दर, बाह्य प्रकृतिसे मुंह मोड़े हुए तथा प्रकाश और सत्यकी ओर अभिमुख हुए, तुम्हारा जो अन्तः-पुरुष है उसका यह भान तुम्हें निरन्तर होता रहे।

जो शक्तियां साधनामें बाधक होती हैं वे निम्नतर मनोमय, प्राणमय और भौतिक प्रकृतिकी शक्तियां हैं। उनके पीछे मनोमय, प्राणमय और सूक्ष्म भौतिक जगतोंमें रहनेवाली विरोधी शक्तियां हैं। इन सबका तभी मुकाबला किया जा सकता है, जब मन और हृदय एकमात्र भगवान्‌की ही अभीप्सामें एकाग्र और केन्द्रित हो चुके हों।

*

*   *

निश्चल-नीरवता सदा अच्छी है; पर मनकी इस निश्चलतासे मेरा मतलब यह नहीं कि मन बिलकुल ही निश्चल हो जाय। मेरा अभिप्राय यह है कि मन सब प्रकारकी हलचल और बेचैनीसे मुक्त हो, स्थिर

हो, उत्फुल्ल हो और प्रसन्न हो, जिससे वह अपने-आपको उस शक्तिके सामने खोल सके जो प्रकृतिका रूपान्तर करेगी । आवश्यक बात यह है कि अशान्त विचारों, अशुद्ध चित्तवृत्तियों, भावनाओंकी उलझनों तथा अन्य अमंगल गतियोंके मनपर निरन्तर आक्रमण करते रहनेकी आदतसे छुटकारा पाया जाय । ये हैं जो हमारी प्रकृति को क्षुब्ध करते, उसे आच्छन्न करते और दिव्यशक्तिके लिये काम करना कठिन बना देते हैं । जब मन स्थिर और शान्त हो जाता है तब शक्ति अपना काम अधिक सुगमतासे कर सकती है। तुम्हारे लिये यह संभव होना चाहिये कि तुम उन बातोंको, जिनका परिवर्त्तन करना तुममें आवश्यक है, बिना घबराये या मुरझाये हुए देख सको, ऐसा करनेसे परिवर्त्तन अधिक सुगमतासे हो जाता है ।

*

* *

शून्य मन और स्थिर मनमें भेद यह है कि, मन जब शून्य होता है तो उसमें कोई विचार नहीं रहता, कोई धारणा नहीं होती, किसी प्रकारका भी मानसिक कार्य

नहीं होता, केवल वस्तुओं का एक ऐसा सारभूत इन्द्रियानुभवमात्र होता है जिसका कुछ रूप नहीं बंधता; किन्तु स्थिर मनमें मनोमय सत्ताका सत्त्व ही शान्त हो जाता है, इस प्रकार शान्त हो जाता है कि उसकी शान्ति किसी भी चीजसे भंग नहीं होती। यदि विचार या संकल्प आते हैं तो वे स्वयं मनमेंसे बिलकुल नहीं उठते, बल्कि बाहरसे आते हैं और जैसे उड़ते हुए पक्षियोंका एक समूह निर्वात आकाशमेंसे होकर गुजर जाता है वैसे ही ये भी आते और चले जाते हैं। ये किसी चीजको क्षुब्ध किये बिना तथा अपना कोई चिन्हतक छोड़े बिना गुजर जाते हैं। यहांतक कि यदि हजारों आकृतियां अथवा अत्यन्त भीषण घटनाएं भी उसके सामनेसे गुजरें, तो भी उसकी स्थिरता और अचंचलता बनी रहती है, मानो उस मनकी रचना एक शाश्वत और अविनाशी शान्तिके तत्त्वसे ही हुई हो। जिस मनने इस स्थिरताको प्राप्त कर लिया है वह काम करना आरंभ कर सकता है, यहांतक कि वह तीव्र रूपसे तथा शक्तिशालितासे भी काम कर सकता है, पर उसकी अपनी मूलगत शान्ति

तो बनी ही रहेगी—वह अपने आपमेंसे कुछ नहीं गढ़ेगा, बल्कि ऊपरसे जो कुछ आता है उसे ग्रहण करेगा, और अपनी ओरसे बिना कुछ घटाये बढ़ाये, उसे एक मनोमय रूप प्रदान करेगा। यह काम वह शान्त तथा वीतराग होकर करेगा, यद्यपि इस सत्यकी तथा इस सत्यमार्गकी मंगलमय शक्ति और प्रकाशकी प्रसन्नता उसमें बनी रहेगी।

*

* *

मनका निश्चल-नीरव हो जाना और विचारोंसे मुक्त होकर शांत हो जाना कोई बुरी बात नहीं है—कारण, प्रायः जब मन निश्चल हो जाता है तभी ऊपरसे विशाल शान्तिका पूर्णावतरण होता है और इस विशाल शान्तावस्थामें, मनके परे जो शान्त ब्रह्म है, जो अपनी विभुताद्वारा सर्वत्र फैला हुआ है, उसका साक्षात्कार होता है। जब शान्ति और मनोमय निश्चल-नीरवता स्थापित हो जाती है, तब प्राणमय मन वहां घुस पड़ने और उस स्थानको अधिकृत

करनेकी चेष्टा करता है अथवा यंत्रात्मक मन इसी अभिप्रायके लिये अपने नाना प्रकारके मामूली अभ्यसित विचारोंकी परंपराको उठानेकी कोशिश करता है। इसके लिये साधकको यह करना चाहिये कि वह इन बाहरी विचारोंको दूर करने और इन्हें चुप कर देनेके लिये सावधान रहे जिससे कम-से-कम ध्यानके समयमें उसके मन और प्राणकी शांति और अचंचलता अखण्ड बनी रहे। यदि तुम दृढ़ और शान्त संकल्प रखो तो इसे उत्तम रीतिसे कर सकते हो। इस प्रकारका संकल्प उस पुरुषका संकल्प होता है जो हमारे मनके पीछे है; जब मन शान्त हो जाता है, जब वह मौन हो जाता है तब साधक इस पुरुषका परिचय प्राप्त कर सकता है जो स्वयं निश्चल-नीरव भी है और प्रकृतिके कार्यसे अलग भी।

धीर, स्थिर, आत्मरत होना, मनकी यह अचंचलता, बाह्य प्रकृतिसे पुरुषकी यह पृथकता बहुत सहायक होती है, प्रायः अनिवार्य होती है। जबतक सत्ता विचारोंके चक्करमें घूमा करती है या प्राणकी गतियोंके

उत्पातसे विचलित हुआ करती है तबतक साधक इस प्रकार स्थिर और आत्मरत नहीं हो सकता। अपने-आपको इनसे अलग करना, इनसे अलग होकर रहना और इन्हें अपने-आपसे अलग अनुभव करना अनिवार्य है।

सत्य व्यक्तित्वके आविष्कारके लिये और प्रकृतिमें उसका निर्माण करनेके लिये दो चीजें आवश्यक हैं। पहली है हृदयके पीछे रहनेवाले अपने ही अन्तः-पुरुषका ज्ञान और दूसरी है पुरुषका प्रकृतिसे इस प्रकारका विच्छेद। क्योंकि सत्यव्यक्ति बाह्य प्रकृतिकी क्रियाओंके कारण परदेकी ओटमें पीछे पड़ा हुआ है।

*

*   *

स्थिरताकी एक महान् लहर (अथवा समुद्र) और एक विशाल प्रकाशमय सत्यवस्तुका सतत ज्ञान—यह स्पष्ट रूपसे परम सत्यकी मूलगत उपलब्धिका स्वरूप है जब मन और आत्मापर उसका प्रथम संस्पर्श होता है। इससे अधिक अच्छे प्रारंभ या स्थापनाकी

कामना नहीं की जा सकती—यह एक आधारभूत चट्टान है जिसपर बाकी सब कुछ निर्माण किया जा सकता है। अवश्य ही, इसका अर्थ किसी एककी उपस्थिति नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है **भागवत-उपस्थिति**—और इस अनुभूतिके महत्वको किसी अस्वीकृति अथवा सन्देहके कारण कम कर देना एक भारी भूल होगी।

इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है और साधकको इसे किसी आकृतिमें परिवर्त्तित करनेकी चेष्टा भी नहीं करनी चाहिये; कारण यह उपस्थिति अपने स्वभावमें अनन्त है। यदि साधककी ओरसे लगातार स्वीकृति होती रही तो इसे अपने-आपको या अपने-आपमेंसे जैसा कुछ या जो कुछ प्रकट करना है उसको वह अनिवार्य रूपसे स्वयं अपनी ही शक्तिद्वारा प्रकट करेगी।

यह बिलकुल ठीक है कि यह भगवान्‌की ओरसे भेजा गया प्रसाद है और इस प्रकारके प्रसादका एकमात्र उत्तर जो कुछ दिया जाना चाहिये वह है इसकी स्वीकृति,

कृतज्ञता और जिस शक्तिने चेतनाका स्पर्श किया है, उसे सत्तामें जो कुछ विकास करना है, उसको वह करने देना—यह अपने-आपको उस ओर खुला रखनेसे ही होगा। प्रकृतिका पूर्ण रूपान्तर एक पलमें नहीं किया जा सकता; इसमें एक दीर्घ काल लगेगा ही और यह उत्तरोत्तर भूमिकाओंको पार करके ही आगे बढ़ेगा; अभी जो अनुभूति तुमको हो रही है वह केवल एक आरंभ है, नवीन चेतनाके लिये एक आधारस्थापना है, जिसमें उस रूपान्तरका होना संभव हो सकेगा। अनुभूतिका अनायास और आपसे-आप होना ही यह सिद्ध करता है कि यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे मनने, संकल्पने या भावावेशने उत्पन्न किया हो, बल्कि यह उस **सत्य**से आयी है जो इनसे परे है।

*

*   *

सन्देहोंको दूर करनेका अर्थ है अपने विचारों-पर नियंत्रण—अवश्य यह ऐसा ही है। किन्तु

अपने विचारोंका नियंत्रण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि अपनी प्राणमय वासनाओं और आवेगोंका अथवा शरीरकी चेष्टाओंका नियंत्रण—यह नियंत्रण योगके लिये तो आवश्यक है ही पर योगके अतिरिक्त भी इसकी आवश्यकता है। किसीका यदि अपने विचारों-पर नियंत्रण नहीं है, यदि वह इन विचारोंका साक्षी, अनुमन्ता और ईश्वर नहीं है तो वह पूर्ण विकसित मनोमय पुरुष भी नहीं हो सकता। जहां मनुष्यके लिये यह अच्छा नहीं है कि वह अपनी वासनाओं और आवेगोंके तूफानमें बेपतवारके जहाजकी तरह बहता रहे या कभी शरीरकी तामसिकता और कभी शारीरिक आवेशोंका गुलाम बना रहे, वहाँ यह भी किसी तरह अच्छा नहीं है कि उसकी मनोमय सत्ता उसके निरंकुश और अनियंत्रित विचारोंके बीच टेनिसके गेंदकी तरह इधरसे उधर लुढ़कती रहे। मैं जानता हूँ कि यह अधिक कठिन है, क्योंकि मनुष्य मुख्यतः मनोमय प्रकृतिकी रचना होनेके कारण अपने-आपको अपने मनकी गतियोंके साथ तदाकार कर लेता है और मन-भँवरके चक्कर और लपेटोंसे

अपने-आपको एकाएक जुदा नहीं कर सकता । अपेक्षया उसके लिये यह सहज है कि वह शरीरपर, कम-से-कम अपनी शारीरिक क्रियाओंके कुछ भागपर नियंत्रण कर सके ; प्राणमय आवेशों और इच्छाओंपर मनका नियंत्रण यद्यपि बहुत सहज नहीं है परन्तु एक संघर्षके बाद यह मजेमें संभव हो जाता है ; किन्तु जिस प्रकार तांत्रिक योगी नदीके ऊपर बैठते हैं उस प्रकार विचारोंके भंवरके ऊपर बैठना सुसाध्य नहीं है । फिर भी ऐसा किया जा सकता है ; ऐसे सब मनुष्योंको जिनका मनोमय विकास हो चुका है, जो औसत मनुष्यसे कुछ ऊपर उठ चुके हैं, उन्हें किसी-न-किसी तरह अथवा कम-से-कम किसी विशेष समय और किसी विशेष प्रयोजनके लिये अपने मनके दो भागोंको पृथक् करना पड़ता है; एक है सक्रिय भाग जो विचारोंका कारखाना है और दूसरा है शान्त और प्रभुत्वपूर्ण भाग जो एक ही संग साक्षी भी है और शक्ति भी है, वह इन विचारोंको देखता रहता है, उनका निर्णय करता है, वर्जन करता है, अपने-आपमेंसे निकाल बाहर करता है,

स्वीकार करता है, सुधार और परिवर्त्तनकी आज्ञा देता है, मनके लोकमें मालिक है, साम्राज्यको चलानेमें समर्थ है।

योगी इससे भी आगे जाता है; वह वहां केवल मालिक ही नहीं है बल्कि जब वह एक प्रकारसे मनमें रहता है तब भी, वह मानो उससे अलग हो जाता है, और मनके ऊपर या उसके ठीक पीछे अपना आसन जमाता है और मुक्त रहता है। उसके संबंधमें विचारोंके कारखानेकी यह उपमा भी सर्वथा ठीक नहीं रहती; कारण वह देखता है कि विचार बाहरसे, विश्वमानस अथवा विश्वप्रकृतिसे आते हैं, ये कभी-कभी आकृति-युक्त तथा स्पष्ट होते हैं और कभी-कभी बिना किसी आकृतिके आते हैं और इन्हें कहीं हमारे अंदर ही आकृति प्रदान की जाती है। हमारे मनका मुख्य कार्य यह है कि वह इन विचारधाराओंको (प्राणमय लहरों और सूक्ष्म भौतिक शक्तिकी लहरोंको भी) या तो स्वीकार कर अपना ले या उन्हें अस्वीकार करे अथवा चारों ओरकी प्रकृति-शक्तिसे आयी हुई

विचार-सामग्री (या प्राणमय गतियों) को इस प्रकारका मनोमय रूप प्रदान करे।

मनोमय सत्ताकी संभावनाएं परिसीमित नहीं हैं, वह अपने राज्यमें स्वतंत्र साक्षी और स्वामी है। साधकके लिये अपने मनपर उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्वातंत्र्य और स्वामित्व स्थापित करते जाना सर्वथा शक्य है, यदि वह श्रद्धा और दृढ़ संकल्पके साथ इस कार्यको अंगीकार करे।

*

*   *

पहली सीढ़ी है अचंचल मन—निश्चल-नीरवता दूसरी सीढ़ी है, पर अचंचलता यहां भी रहनी चाहिये; अचंचल मनसे हमारा अभिप्राय है वह आन्तरिक मनोमय चेतना जो विचारोंको अपने पास आते हुए और मंडराते हुए तो देखती है पर वह स्वयं यह नहीं अनुभव करती कि इन विचारोंको वही कर रही है या उनसे तदाकार हो रही है अथवा उन्हें

अपना समझ रही है। विचार, मनोमय गतियां उसमेंसे होकर इस तरह गुजर जाती हैं जैसे कोई पथिक कहीं बाहरसे एक शान्त प्रदेशमें आता है और वहांसे होकर गुजर जाता है—अचंचल मन इन्हें साक्षीरूपसे देखता है या देखनेकी भी परवाह नहीं करता, परन्तु इन दोनों ही अवस्थाओंमें न तो वह क्रियाशील होता है और न अपनी अचंचलताको ही गँवा देता है। निश्चल-नीरवता अचंचलतासे कुछ अधिक है; आभ्यन्तरिक मनसे विचारोंको सर्वथा निकाल बाहर कर और उन्हें निःशब्द अथवा बिलकुल बाहर रखनेसे यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है; परन्तु ऊपरसे अवतरण होनेपर इसकी स्थापना अधिक सुगमतासे होती है—साधक उसे नीचे उतरती हुई, व्यक्तिगत चेतनामें प्रवेश करती हुई और उसपर अधिकार करती हुई या उसे चारों ओरसे घेर लेती हुई अनुभव करता है और तब उसकी व्यक्तिगत चेतना अपने-आपको इस विशाल निर्व्यक्तिक निश्चल-नीरवतामें विलीन कर देनेके लिये प्रवृत्त हो जाती है।

शान्ति, स्थिरता, अचंचलता, निश्चल-नीरवता, इनमेंसे प्रत्येक शब्दके अर्थकी अपनी-अपनी एक अलग छाया है और इनकी व्याख्या करना सहज नहीं।

शान्ति—Peace.

स्थिरता—Calm.

अचंचलता—Quiet.

निश्चल-नीरवता—Silence.

अचंचलता एक ऐसी अवस्था है जहां चंचलता या क्षोभ बिलकुल नहीं है।

स्थिरता इससे भी अधिक अविचल अवस्था है जिसपर किसी भी क्षोभका असर नहीं हो सकता। यह अवस्था अचंचलतासे कम अभावात्मक (Negative) है।

शान्ति इससे अधिक भावात्मक (Positive) अवस्था है; इसके साथ एक स्थायी और सामंजस्यपूर्ण विश्रांति तथा निवृत्तिका भाव रहता है।

निश्चल-नीरवता वह अवस्था है जिसमें मन अथवा प्राणकी या तो कोई गति ही नहीं होती या वहां एक ऐसी महान् निःशब्दता छा जाती है जिसे कोई भी ऊपरी गति भेदन या विकृत नहीं कर सकती।

*

* *

मनकी अचंचल अवस्थाको बनाये रखो और यदि वह कुछ कालके लिये केवल एक रिक्त अवस्था हो तो भी उसकी परवाह मत करो; क्योंकि चेतना प्रायः एक ऐसे पात्रकी तरह है जिसमें पड़े हुए मिश्रित और अवांछित पदार्थको निकालकर खाली करना पड़ता है, इसे थोड़ी देरके लिये रिक्त रखना पड़ता है जब-तक कि इसे नवीन और सत्य, उचित और पवित्र पदार्थसे न भर दिया जाय। एक बातसे बचना होगा और वह यह कि इस पात्रमें फिरसे वे ही गंदली चीजें न भर जायं। तबतक प्रतीक्षा करो, अपने-आपको ऊपरकी ओर खोलो पर बड़ी धीरता और स्थिरताके साथ, न कि अति अशान्त व्याकुलताके साथ; अपनी निश्चल-नीरवतामें पहले शान्तिका

आवाहन करो और शान्तिकी स्थापना हो जानेके बाद आनन्द और भागवत उपस्थितिके लिये पुकार करो ।

*

* *

चाहे स्थिरता आरंभमें एक अभावात्मकसी चीज दिखायी दे, फिर भी इस स्थितिको प्राप्त करना इतना कठिन है कि यदि इसकी सचमुच प्राप्ति हो जाय तो यह मानना होगा कि उन्नति-पथपर बहुत अधिक आगे बढ़े ।

वास्तवमें, स्थिरता अभावात्मक वस्तु नहीं है, यह तो सत्पुरुषका अपना स्वभाव है तथा दिव्य चेतनाके लिये भावात्मक नींव है । चाहे अन्य किसी भी वस्तुकी तुम अभीप्सा करो और उसे प्राप्त भी कर लो, पर इसको तो तुम्हें बनाये ही रखना होगा । ज्ञान, शक्ति और आनन्द भी, यदि आते हैं और इस नींवको नहीं पाते तो वहां ठहरनेमें असमर्थ होते हैं और उन्हें उस काल-तकके लिये लौट जाना पड़ता है जबतक कि दिव्य

शुद्धि और सत्पुरुषकी शान्ति वहां स्थायी रूपसे नहीं टिक जाती।

भागवत चेतनाके बाकीके तत्त्वोंके लिये अभीप्सा करो, पर यह अभीप्सा स्थिर हो और गभीर हो। यह स्थिर (शान्त) होती हुई भी तीव्र हो सकती है पर अधीर, अशांत अथवा राजसिक उत्सुकतासे भरी हुई नहीं होनी चाहिये।

केवल अचंचल मन और अचंचल आधारमें ही विज्ञानमय सत्य अपनी सच्ची सृष्टिका निर्माण कर सकता है।

*
* *

साधनामें अनुभूतिका आरंभ मनोमय लोकसे ही होता है—आवश्यकता केवल इस बातकी है कि यह अनुभूति अभ्रान्त हो और यथार्थ हो। मनमें समझने और संकल्प करनेके लिये दबाव तथा हृदयमें भगवान्‌के प्रति भावनाभरी उमंग ये दोनों योगके सबसे पहले प्रतिनिधि हैं और शांति, शुद्धता तथा

स्थिरता (निम्न कोटिकी बेचैनीके सर्वथा शांत हो जानेके साथ) स्पष्ट रूपसे वह प्रथम आधार है जिसको स्थापित करना है; आरंभमें इनको प्राप्त करना अतिभौतिक जगतोंकी झांकी लेने अथवा आन्तरिक दृश्यों, ध्वनियों और शक्तिको प्राप्त करनेकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है । पवित्रता और स्थिरता योगकी पहली आवश्यकताएँ हैं । किसीके पास पवित्रता और स्थिरताके बिना भी इस प्रकारकी अनुभूतियों (जगतोंकी झांकी, दृश्यों, ध्वनियों आदि) की एक बहुत बड़ी सम्पत्ति हो सकती है, परन्तु ये अनुभूतियां जो अशुद्ध और अशांत चेतनामें होती हैं, वे प्राय: अव्यवस्था और नाना प्रकारकी मिलावटसे भरी हुई होती हैं ।

आरंभमें शान्ति और स्थिरता सतत नहीं रहतीं । वे आती हैं और चली जाती हैं और प्रकृतिमें स्थायी रूपसे जम जानेमें साधारणतया उन्हें एक दीर्घकाल लग जाता है । इसलिये यह अच्छा है कि तुम अधीरतासे बचो और जो कुछ भी किया जा रहा है

उसे दृढ़तापूर्वक धारण करते चलो। यदि तुम शान्ति और स्थिरताके परेकी कोई चीज चाहते हो तो उसके लिये यह होना चाहिये कि तुम्हारे अन्तः-पुरुषका पूर्ण उद्घाटन हो और तुममें जो भगवत्-शक्ति कार्य कर रही है उसका तुम्हें ज्ञान हो। इसके लिये तुम सचाईके साथ, प्रगाढ़ तीव्रताके साथ,—किन्तु जरा भी अधीर न होते हुए—अभीप्सा करो और तब वह तुम्हें प्राप्त हो जायगी।

*

*   *

आखिर तुम साधनाके सच्चे आधारको पा गये हो। यह स्थिरता, शान्ति और समर्पण आगे आनेवाली बाकी चीजों अर्थात् ज्ञान, शक्ति और आनंदके लिये उचित वातावरण है। इस स्थिरता, शान्ति और समर्पणको पूर्ण होने दो।

जब कर्म करते रहते हो तब यह अवस्था इसलिये नहीं बनी रहती कि अभी भी यह तुम्हारे असली मन-तक ही सीमित है जिसने निश्चल-नीरवताके प्रसादको

अभी-अभी प्राप्त किया है । जब नवीन चेतना पूरी तरहसे विकसित हो जायगी और प्राणमय प्रकृति तथा भौतिक सत्ताको पूर्णतः अपने अधिकारमें कर लेगी (कारण अभीतक निश्चल-नीरवताने प्राणका स्पर्शमात्र किया है अथवा उसपर अपना एक प्रभाव-मात्र जमाया है, पर उसे अधिकृत नहीं किया है) तब यह कमी दूर हो जायगी।

शान्तिकी यह चंचलतारहित चेतना जो इस समय तुम्हारे मनमें है उसे केवल स्थिर ही नहीं होना होगा बल्कि विस्तृत भी होना होगा। तुम्हें उसे हर जगह अनुभव करना होगा, तुम स्वयं उसके अंदर हो और सब कुछ उसके अंदर है यह अनुभव करना होगा । इससे भी तुम्हें अपने कर्मके अंदर स्थिरताको एक आधारके तौरपर ला सकनेमें सहायता मिलेगी।

तुम्हारी चेतना जितनी ही फैलती जायगी उतना ही तुम ऊपरसे कुछ प्राप्त करनेके अधिक योग्य होते जाओगे । तब **शक्ति** अवतरण कर सकेगी और आधारमें बल और प्रकाश और साथ-ही-साथ शान्ति-

को ला सकेगी। तुम अपने अंदर जिस चीजको संकुचित और परिसीमित बोध कर रहे हो वह भौतिक मन है; यह तभी विस्तृत हो सकता है जब वे विस्तीर्णतर चेतना और प्रकाश नीचे उतर आवें और प्रकृतिको अपने अधिकारमें कर लें।

भौतिक जड़ता जिससे तुम इस समय कष्ट पा रहे हो उसका क्षीण होकर लुप्त हो जाना तभी संभव हो सकता है, जब कि आधारमें शक्तिका ऊपरसे अवतरण हो।

अचंचल बने रहो, अपने-आपको खोलो और भागवत शक्तिका आवाहन करो कि वे स्थिरता और शान्तिकी पुष्टि करें, चेतनाको विस्तीर्ण करें और उसमें उतने अधिक प्रकाश और बलका संचार करें जितना कि वह उस समय ग्रहण कर सकता हो और पचा सकता हो।

इस बातसे सावधान रहो कि तुम कहीं अति-उत्सुक न हो जाओ, कारण यह अति-उत्सुकता उस

स्थिरता और समतुलताको जो प्राणमय प्रकृतिमें अब-तक स्थापित हो चुकी है, फिरसे क्षुब्ध कर सकती है।

अन्तिम परिणाममें विश्वास रखो और शक्तिको अपना काम करनेके लिये समय दो।

*

* *

अभीप्सा करो, उचित भावमें रहते हुए एकाग्र होओ, कठिनाइयां चाहे जो हों, पर जिस ध्येयको तुमने अपने सामने रखा है उसे तुम अवश्य प्राप्त करोगे।

पीछे जो शान्ति है और तुम्हारे अंदर जो "सत्य-वस्तु" है उसीमें निवास करना तुम्हें सीखना होगा और उसे ही तुम्हें अपना सत्यस्वरूप अनुभव करना होगा। बाकीकी चीजोंको तुम्हें अपना सत्यस्वरूप नहीं समझना होगा, वे तो केवल ऊपरी तलपर बदलते रहनेवाली या बार-बार होनेवाली गतियोंका प्रवाह-मात्र हैं जो सत्यस्वरूपके प्रकट होते ही बंद हो जायगा।

असली इलाज शान्ति है, कठिन परिश्रममें लगकर मनको दूसरी ओर फेरे रखनेसे केवल अस्थायी आराम ही मिलेगा——यद्यपि सत्ताके विभिन्न भागोंकी यथार्थ समता बनाये रखनेके लिये किसी मात्रामें काम करना आवश्यक होता है। सिरके ऊपर और उसके आस-पास शान्तिका बोध करना पहली सीढ़ी है; तुम्हें उसके साथ अपना संबंध जोड़ लेना होगा और उसे तुम्हारे अंदर उतरना होगा जिससे वह तुम्हारे मन, प्राण और शरीरमें भर जाय और तुम्हें इस प्रकार आवेष्ठित कर ले कि तुम उसीमें रहने लगो—कारण यह शान्ति तुम्हारे साथ भगवान्‌की उपस्थितिका एक चिन्ह है और एक बार तुमने जहाँ इसको प्राप्त कर लिया तो बाकीकी चीजें आप-से-आप आने लगेंगी।

भाषणमें सत्यता और विचारमें सत्यता बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जितना ही अधिक तुम यह अनुभव कर सकोगे कि मिथ्यापन तुम्हारा अपना अंश नहीं है और यह तुम्हारे पास बाहरसे आता है, उतना ही

अधिक इसका त्याग करना तथा इसे अस्वीकार करना तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा।

तुम लगे रहो और जो कुछ अभी वक्र है वह भी सरल कर दिया जायगा तथा तुम भगवान्‌की उपस्थितिके सत्यको निरन्तर जानने और अनुभव करने लगोगे एवं प्रत्यक्ष अनुभूतिद्वारा तुम्हारी श्रद्धाका समर्थन हो जायगा।

*

*   *

मातासे पहले यह अभीप्सा करो और प्रार्थना करो कि तुम्हारा मन अचंचल हो, तुममें शुद्धि, स्थिरता और शान्तिका निवास हो, तुममें जागृत चेतना हो, प्रगाढ़ भक्ति हो, समस्त आन्तर और बाह्य कठिनाइयोंका मुकाबला करनेके लिये और इस योगमें अन्ततक पहुँचनेके लिये तुममें बल तथा आध्यात्मिक सामर्थ्य हो। यदि चेतना जागृत हो जाती है और वहां भक्ति एवं अभीप्साकी तीव्रता रहती है तो मनके लिये यह संभव हो जायगा कि

वह ज्ञानमें विकसित हो सके, बशर्त्ते कि वह अचंचल होना और शान्त रहना सीख ले।

*
* *

तुम्हारी भौतिक सत्ता विशेषतः प्राणमय-भौतिक सत्ताकी अति-क्षोभता तथा तीव्र सचेतनताके कारण यह हुआ है।

शरीरके लिये अधिकाधिक सचेतन होते जाना अच्छा है, पर इसका यह मतलब नहीं कि शरीर इन साधारण मानवी प्रक्रियाओंसे, जिनका उसे भान होता है, अभिभूत हो जाय, या बुरी तरहसे प्रभावित या विपर्यस्त हो जाय। सुदृढ़ समता, प्रभुता और अनासक्तिको मनकी तरह ही स्नायुओं और शरीरमें भी आ जाना चाहिये जिससे भौतिक शरीर इस योग्य हो जाय कि वह इन चीजोंको जाने और इनसे संबंध भी करे पर किसी भी प्रकारका क्षोभ अनुभव न करे; अनिष्ट गतियोंका जो दबाव वातावरणमें पड़ता है उसको उसे जानना और सचेत होना चाहिये तथा

उसका त्याग कर उसे दूर फेंक देना चाहिये, न कि वह केवल उनका बोध करता रहे और उनको सहन करता रहे।

*

* *

अपनी कमजोरियों और कुप्रवृत्तियोंको पहचानना और उनसे निवृत्त होना यही मुक्तिकी ओर ले जाने-वाला मार्ग है।

जबतक यह योग्यता न हो कि तुम वस्तुओंको स्थिर मन और स्थिर प्राणसे देख सको तबतक अपने-आपको छोड़कर किसी दूसरेके विषयमें कोई राय कायम न करना अत्युत्तम है। साथ ही, तुम अपने मनको, जो कुछ बाहरसे दिखायी देता है उसके आधारपर जल्दबाजीसे कभी कोई सम्मति न बनाने दो, और न अपने प्राणको उसपर आचरण करने दो।

अन्तःसत्तामें एक ऐसा स्थान है जहां तुम सदा स्थिर रह सकते हो और वहांसे बाह्य चेतनाकी

हलचलोंपर समावस्था और न्यायके साथ दृष्टि डाल सकते हो तथा उनका परिवर्त्तन करनेके लिये उनपर क्रिया कर सकते हो। यदि तुम अन्तःसत्ताकी इस स्थिरतामें रहना सीख सको तो तुम अपने स्थायी आधारको प्राप्त कर लोगे।

*

* *

इन बातोंसे अपने-आपको विचलित और अशान्त मत होने दो। एक बात जो सदा करनी है वह है भगवान्‌में दृढ़ अभीप्सा बनाये रखना तथा समस्त कठिनाइयों और विरोधोंका समता और अनासक्तिके साथ सामना करना। जो लोग आध्यात्मिक जीवन बितानेकी अभिलाषा रखते हैं, उनके लिये हर बातमें सबसे पहले भगवान्‌का स्थान होगा और बाकी सभी चीजें गौण रहेंगी।

अपने-आपको अनासक्त रखो और इन बातोंकी ओर उस अन्तरदेवकी प्रशान्त दृष्टिसे देखो जो भीतर-ही-भीतर भगवान्‌पर न्योछावर रहता है।

इस समय तुम्हारी अनुभूतियां मनकी भूमिकामें हो रही हैं; और यही उचित गति है। बहुतसे साधक उन्नति करनेमें इसलिये असमर्थ हो जाते हैं कि वे मन और अन्तरात्माके स्तरोंके तैयार होनेके पहले ही प्राणके स्तरको खोल देते हैं। मनकी भूमिकापर कुछ सत्य आध्यात्मिक अनुभूतियोंके आरंभमात्रके बाद प्राणमें एक असामयिक अवतरण होता है और इससे भारी गड़बड़ी और हलचल मच जाती है। इससे अपने-आपको बचाना होगा। यदि कहीं प्राणगत वासना-आत्मा, मनमें आध्यात्मिक तत्त्वोंका स्पर्श हो जानेके पहले ही अनुभूतिके लिये खुल जाता है तो यह और भी बुरा है।

इस बातकी सदा अभीप्सा करो कि मन और हृत्पुरुषमें सत्य चेतना और सत्य अनुभूति भर दी जायं और ये तैयार कर दिये जायँ। तुमको अचंचलता, शान्ति, एक स्थिर श्रद्धा, एक वर्धमान और स्थायी विस्तीर्णता, अधिकाधिक ज्ञान, गभीर और प्रगाढ़ किन्तु शान्त भक्तिके लिये विशेष रूपसे अभीप्सा करनी चाहिये।

अपनी वर्त्तमान परिस्थितियों और उनके विरोधसे विचलित मत होओ । प्राय: ये अवस्थाएं एक प्रकारकी परीक्षाके तौरपर साधकपर लायी जाती हैं । यदि तुम शान्त और अविचलित रह सको और इन अवस्थाओंमें अपने-आपको अंदरसे जरा भी विचलित न होने देकर अपनी साधना जारी रख सको तो इससे तुमको उस सामर्थ्यको प्राप्त करनेमें सहायता मिलेगी जिसकी बहुत आवश्यकता है ; कारण योग-मार्ग सदा आन्तर और बाह्य कठिनाइयोंसे आकीर्ण रहता है और इन कठिनाइयोंका सामना करनेके लिये साधकको एक अचंचल, दृढ़ और ठोस सामर्थ्यको अपनेमें विकसित करना होता है ।

*

* *

आन्तरिक आध्यात्मिक उन्नति बाह्य अवस्थाओंपर उतना निर्भर नहीं करती जितना इस बातपर निर्भर करती है कि अंदरसे हम उन अवस्थाओंपर किस प्रकारसे प्रतिक्रिया करते हैं—आध्यात्मिक अनुभूतियोंके

विषयमें सदा यही अन्तिम निर्णय रहा है। यही कारण है कि हम लोग इस बातपर जोर देते और आग्रह करते हैं कि साधक उचित भाव रखे और उसको सदा बनाये रहे, वह एक ऐसी आन्तरिक स्थितिको प्राप्त करे जो बाह्य अवस्थाओंपर निर्भर न करती हो,—यदि वह स्थिति एकदम आन्तरिक आनन्दकी स्थिति न हो सकती हो तो भी समता और स्थिरताकी स्थिति अवश्य हो—वह अधिकाधिक अपने भीतर प्रवेश करे और भीतरसे ही बाहरकी ओर देखे न कि जीवनके धक्कों और थपेड़ोंपर निर्भर रहनेवाले अपने ऊपरी तलके मनमें निवास करे। केवल इस आन्तरिक स्थितिमें रहकर ही साधक जीवन और उसकी विघ्नकारी शक्तियोंके मुकाबलेमें अधिक बलवान बन सकता है और विजय पानेकी आशा रख सकता है।

इस मार्गकी सीखने योग्य प्रारंभिक बातोंमें सबसे पहली बात यह है कि साधक कठिनाइयों या उतार-चढ़ावोंसे विचलित अथवा हतोत्साह न होते हुए अन्त-तक पहुंचनेके अपने संकल्पमें दृढ़ रहे और अपनेको

भीतरसे अचंचल बनाये रहे। इसके विपरीत चलनेसे वही होता है जिसकी तुम शिकायत कर रहे हो, अर्थात् चेतनाकी अस्थिरताको उत्तेजना मिलना और अनुभूतिको बनाये रखेनेमें कठिनाई होना। यदि तुम अंदरसे धीर और अचंचल बने रहो तभी यह हो सकता है कि अनुभूतिकी धारा किसी हद्तक अबाधित गतिसे प्रवाहित होती रहे—यद्यपि ऐसा कभी नहीं होता कि बीच-बीचमें व्याघात और उतार-चढ़ावके काल बिलकुल न आते हों; तो भी यदि इन्हें ठीक प्रकारसे वर्त्ता जाय तो यह किया जा सकता है कि ये काल साधनामें व्यर्थ गंवाये गये कालकी जगह अनुभूतिको आत्मसात् करने तथा कठिनाईका क्षय कर देनेके काल बन जायं।

बाह्य अवस्थाओंकी अपेक्षा एक आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है; यदि कोई इसे प्राप्त कर सके और साथ ही अपने श्वास लेनेके लिये वहां अपना निजी आध्यात्मिक वायुमंडल उत्पन्न कर सके

और उसमें रह सके, तो यह उन्नतिके लिये ठीक अवस्था होगी।

*

*   *

तुम इस योग्य हो जाओ कि भागवत शक्तिको ग्रहण कर सको और उसे अपनेद्वारा बाह्य जीवनकी वस्तुओंपर कार्य करने दे सको, इसके लिये तीन शर्त्तें आवश्यक हैं :—

(क) अचंचलता, समता—कोई भी घटना क्यों न घटे विचलित नहीं होना, मनको स्थिर और दृढ़ रखना, शक्तियोंके खेलको देखते रहना परन्तु स्वयं प्रशान्त रहना।

(ख) अखण्ड श्रद्धा—ऐसी श्रद्धा कि मेरे लिये जो सर्वोत्तम है वही होगा, पर साथ ही यह श्रद्धा भी कि यदि मैं अपने-आपको एक सच्चा यंत्र बना सकूं तो इसका फल वही होगा, अर्थात् मैं वही कर्म करूंगा जिसे भागवत ज्योतिसे परिचालित मेरा संकल्प अपने कर्तव्य कर्मके रूपमें देखता है।

(ग) ग्रहणशीलता—भागवत शक्तिको ग्रहण करनेका सामर्थ्य तथा भागवत शक्तिकी उपस्थिति और उसमें **माता**की उपस्थिति अनुभव करनेका एवं उसे अपने अंदर कार्य करने देनेका सामर्थ्य जिससे वह साधककी दृष्टि, संकल्प तथा कर्मको परिचालित करती हुई उसमें कार्य कर सके। यदि इस सामर्थ्य और उपस्थितिकी प्रतीति की जा सके और यह नमनीयता कर्मगत चेतनाका स्वभाव बना ली जा सके—किन्तु यह नमनीयता केवल भागवत शक्तिके लिये ही हो और कोई विजातीय तत्त्व इसमें मिश्रित न हो जाय—तो अन्तिम परिणाम सुनिश्चित है।

*
*   *

समता इस योगका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है; यह आवश्यक है कि दुःख और कष्टमें भी समता को बनाये रखा जाय—जिसका यह अर्थ है कि दृढ़ता और स्थिरताके साथ सहन करना, बेचैन अथवा विचलित या हतोत्साह किंवा हताश न होना और

ईश्वरेच्छामें अटल श्रद्धा रखते हुए आगे बढ़े चलना। परन्तु तामसिक स्वीकृति समताके अन्तर्गत नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि साधनाके किसी प्रयत्नमें अस्थायी विफलता हुई तो भी तुमको समता बनाये रखनी चाहिये और विचलित या हताश नहीं होना चाहिये, किन्तु तुम्हें इस विफलताको ईश्वेरच्छाका संकेत नहीं समझना चाहिये और अपने प्रयत्नको नहीं छोड़ना चाहिये। बल्कि तुम्हें चाहिये कि तुम इस विफलताके कारण और तात्पर्यकी खोज करो और श्रद्धापूर्वक विजयकी ओर बढ़ते जाओ। यही बात रोगके संबंधमें है—तुम्हें दुःखित, डांवाडोल या बेचैन नहीं होना चाहिये, पर रोगको भगवदिच्छा समझकर स्वीकार भी नहीं करना चाहिये, बल्कि उसे शरीरकी एक त्रुटि समझना चाहिये और जिस प्रकार तुम प्राणगत त्रुटियों अथवा मनके प्रमादोंसे छुटकारा पानेकी चेष्टा करते हो उसी प्रकार इससे भी छुटकारा पाना चाहिये।

*

* *

समताके बिना साधनामें किसी सुदृढ़ स्थापनाका होना संभव नहीं। अवस्थाएं चाहे जितनी भी अप्रिय हों, दूसरोंका व्यवहार चाहे जितना भी प्रतिकूल हो, तुम्हें उनको पूर्ण स्थिरता और बिना किसी हलचल मचानेवाली प्रतिक्रियाके, ग्रहण करना सीखना होगा। इन चीजोंसे समताकी परख होती है। जब सब कुछ ठीक तरहसे चल रहा हो और जन-समूह तथा परिस्थिति अनुकूल हो उस समय तो स्थिर और सम होना सहज है ही; किन्तु परिस्थिति जब इसके विपरीत होती है तभी यह अवसर होता है कि स्थिरता, समता और शान्तिके पूर्ण होनेकी परख की जा सके और उनमें नवीन शक्तिका संचार कर उन्हें सर्वाङ्गसंपूर्ण बनाया जा सके।

*

*　　*

तुम्हें जो कुछ हुआ वह यह बताता है कि जिस समय अहंकारका स्थान भागवत शक्ति ले लेती है और साधकके मन, प्राण और शरीरको अपना यंत्र

बनाकर कर्मका संचालन करती है उस अवस्थाकी शर्त्तें क्या हैं। मनमें एक ग्रहणकारी निश्चल-नीरवता, मनोमय अहंकारका समूल नाश तथा मनोमय सत्ताका एक साक्षीमात्रकी अवस्थामें आ जाना, भागवत शक्तिके साथ निकटस्थ संबंध और आधारका अन्य सब प्रभावोंसे विमुख होकर केवल उस एक दिव्य प्रभावके लिये ही खुले रहना, ये भगवान्‌का एक ऐसा शुद्ध यंत्र बन जानेकी शर्त्तें हैं जो केवल, एकमात्र उन्हींके द्वारा परिचालित होता है।

स्वयं मनकी निश्चल-नीरवता विज्ञानमय चैतन्यको नीचे नहीं उतार लाती; मानव मन और विज्ञानके बीचमें चेतनाकी अनेक अवस्थाएं अथवा भूमिकाएं या स्तर हैं। निश्चल-नीरवता तो मन तथा सत्ताके अन्यान्य अंगोंको महत्तर चीजोंके लिये खोल देती है, कभी विराट चेतनाकी ओर, कभी शान्त ब्रह्मकी अनुभूतिकी ओर, कभी भगवान्‌की शक्ति या उपस्थितिकी ओर, कभी मानव मनश्चैतन्यसे उच्चतर चैतन्यकी ओर; इनमेंसे किसी प्राप्तिके लिये मनकी

निश्चल-नीरवता अत्यन्त अनुकूल अवस्था है । इस योगमें तो यह अत्यन्त अनुकूल अवस्था है ही (अवश्य ही यह एकमात्र नहीं है) जिसमें भागवत शक्ति पहले व्यष्टिगत चेतनाके ऊपर और फिर इस चेतनाके भीतर अवतरण करती और वहां उस चेतनाको रूपान्तर करनेका अपना कार्य करती है, उसे आवश्यक अनुभूति प्रदान करती हुई, उसके समस्त दृष्टिकोणों और गतियोंका परिवर्त्तन करती हुई, तबतक उसे उत्तरोत्तर अवस्थाओंसे आगे बढ़ाती चलती है जबतक कि वह अन्तिम (विज्ञानमय) परिवर्त्तनके उपयुक्त न हो जाय ।

*

* *

"ठोस शिला" की तरह अपनेको बोध करनेका यह अनुभव इस बातका संकेत है कि तुम्हारी बाह्य सत्तामें—किन्तु उस बाह्य सत्तामें जो मुख्यतया प्राणमय-भौतिक है—एक ठोस बल और शान्तिका अवतरण हुआ है । हमेशा यही वह बात है जो नींव होती है, जो दृढ़ आधार होती है जिसपर बाकी-का सब कुछ (आनन्द, ज्योति, ज्ञान, भक्ति) आगे

चलकर अवतरण कर सकता है और उसपर ठहर सकता या सुरक्षित रूपसे विहार कर सकता है। दूसरे अनुभवमें जो सुन्न पड़ जाना था वह इस कारण था कि वह गति अंदरकी ओर थी; किन्तु इस अनुभवमें योगशक्ति बाहरकी ओर पूर्ण सचेत बाह्य प्रकृतिमें आ रही है जिससे कि वह वहां योगकी तथा योगके अनुभवकी स्थापनाका प्रारंभ करे। अतः सुन्न पड जाना, जो चेतनाके बाह्य भागोंसे खिंच आनेकी प्रवृत्तिका चिन्ह था, वह यहां नहीं है।

*

* *

पहले इस बातको स्मरण रखो कि चंचल मन और प्राणके पवित्रीकरणसे प्राप्त हुई अंदरकी अचंचलावस्था, सुरक्षित साधनाके लिये पहली शर्त्त है। फिर यह स्मरण रखो कि जिस समय बाह्य कर्ममें लगे हो उस समय भी माताकी उपस्थितिको अनुभव करना यह स्वयं ही एक महान् उन्नति है जो पर्याप्त आन्तरिक विकासके बिना नहीं हो सकती। जिस वस्तुको

पानेकी तुम इतनी अधिक आवश्यकता अनुभव करते हो पर उसे व्यक्त नहीं कर सकते वह, संभवतः यह है कि तुम चाहते हो कि तुम्हारे अंदर माताकी जो शक्ति काम कर रही है, ऊपरसे अवतरण कर रही है और तुम्हारी सत्ताके विभिन्न अंगोंको अपने अधिकारमें ले रही है, उसका तुम्हें सतत और जीता-जागता बोध हो। यह अवस्था है जो आरोहण और अवतरणकी द्विविध गति आरंभ होनेके पहले बहुधा हुआ करती है; और यह अपने समयपर तुम्हें अवश्य प्राप्त हो जायगी। ये बातें प्रत्यक्ष रूपसे आरंभ हो जायं इसमें एक दीर्घकाल लग सकता है, विशेषतः जब कि मनको अत्यन्त क्रियाशील रहनेकी आदत हो और उसे मनोमय निश्चल-नीरवताका अभ्यास न हो तब दीर्घकाल लग जाना बहुत संभव है। जब यह आवृत करनेवाली (मनकी) क्रियाशीलता रहती है तब बहुतसा कार्य मनके इस हिलते-डुलते परदेके पीछे करना पड़ता है और उस समय साधक यद्यपि यह समझता है कि कुछ नहीं हो रहा है, पर यथार्थमें बहुतसा काम उसकी तैयारीके लिये होता रहता है।

यदि तुम अधिक तेजीसे और प्रत्यक्ष उन्नति चाहते हो तो यह तभी हो सकता है जब कि तुम निरन्तर आत्मनिवेदनद्वारा अपने हृत्पुरुषको सामने ले आओ। इसके लिये प्रगाढ़ अभीप्सा करो, पर उसमें अधैर्य न हो।

*

* *

साधनाके लिये बलवान मन और शरीर और जीवनीशक्तिकी आवश्यकता होती है। इस बातके लिये विशेष यत्न करना चाहिये कि तमसको निकाल बाहर किया जाय और प्रकृतिके इस ढांचेमें बल और शक्तिका संचार हो जाय।

योगमार्ग एक सजीव वस्तु होनी चाहिये न कि एक मानसिक सिद्धान्त अथवा एक निर्धारित पद्धति जिससे, समस्त आवश्यक परिवर्त्तनोंकी अवस्थामें भी, चिपककर रहा जाय।

*

* *

स्थिरता

विचलित नहीं होना, अचंचल रहना और सफलतामें विश्वास रखना, यह उचित भाव है जिसमें साधकको रहना चाहिये, पर इस बातकी भी आवश्यकता है कि वह **माता**की सहायताको ग्रहण करे और किसी भी अवस्थामें उनकी करुणासे विमुख न हो। उसको असमर्थता, प्रत्युत्तर देनेकी अयोग्यता आदि विचारोंको तो अपनेमें प्रवेशतक नहीं करने देना चाहिये तथा अपने दोषों और विफलताओंको बहुत अधिक नहीं सोचना चाहिये और इन सबके कारण मनको दुःखित और लज्जित नहीं होने देना चाहिये; कारण ये भाव और विचार अन्तमें दुर्बलताकी सृष्टि करते हैं। यदि कठिनाइयां, बीच-बीचमें ठोकरें खाना या विफलताएं होती हैं तो उनका धीरतापूर्वक निरीक्षण करो और उन्हें हटानेके लिये शान्तिपूर्वक भागवत साहाय्यका निरन्तर आवाहन करो, परन्तु अपने-आपको न तो व्याकुल ही होने दो, न दुःखित या हतोत्साह। योगमार्ग कोई सहज बात नहीं है और प्रकृतिका आमूल परिवर्त्तन एक दिनमें नहीं किया जा सकता।

यह उत्साहभंग और प्राणगत संघर्ष, गत प्रयत्नमें तुम्हारी परिणामके लिये अत्यधिक उत्सुकता तथा अत्यन्त श्रम करनेके दोषके कारण ही हुआ है—यह हुआ कि जब चेतनामें उतार आया तो तुम्हारा व्याकुल, हताश और उलझनमें पड़ा हुआ प्राण ऊपरी तलपर आ गया जिसने तुम्हारी प्रकृतिकी विरोधी दिशाकी ओरसे आनेवाले संशय, निराशा और जड़ताके सुझावोंके प्रवेशके लिये पूरी तरहसे द्वार खोल दिया। ठीक मानसिक चेतनाकी तरह ही तुम्हें प्राण तथा शरीरकी चेतनामें भी स्थिरता और समताकी सुदृढ़ स्थापना करनेके लिये अग्रसर होना है। वहां शक्ति और आनन्दका पूर्ण अवतरण होने दो, परन्तु वह एक ऐसे सुदृढ़ आधारमें हो जो उसे धारण कर सके—पूर्ण समता ही एक ऐसी चीज है जो इस योग्यता और दृढ़ताको लाती है।

*

* *

विस्तीर्णता और स्थिरता यौगिक चेतनाकी स्थापनाके लिये नींव हैं तथा आन्तरिक विकास और

अनुभूतिके लिये अनुकूलतम अवस्था हैं। यदि भौतिक चेतनामें एक विस्तीर्ण स्थिरताकी स्थापना की जा सके, जो इस शरीर और इसके प्रत्येक अणुतकको अधिकृत कर इनमें भर जाय तो यह उसके रूपान्तर-का आधार बन सकती है; यथार्थमें, बिना इस विस्तीर्णता और स्थिरताके रूपान्तर होना संभव नहीं।

*
* *

यह इस साधनाका लक्ष्य है कि चेतना शरीरसे ऊपर उठे और ऊपर ही अपना स्थान ग्रहण करे—हर जगह फैल जाय, शरीरमें ही परिसीमित न रहे। इस प्रकार मुक्त होकर साधक इस स्थानसे ऊपर, साधारण मनसे ऊपर, जो कुछ है उनकी ओर उन्मुख हो जाता है और वहांपर वह ऊर्ध्व लोकोंसे जो कुछ आता है उसे ग्रहण करता है तथा जो कुछ नीचे है उसे देखता रहता है। इस तरह साधकका पूर्ण निर्मुक्त होकर साक्षी बन जाना और जो कुछ निम्नमें है उसपर नियंत्रण करना तथा जो कुछ नीचे अवतरण

करता है और शरीरमें प्रवेश करना चाहता है उसके लिये एक पात्र या मार्ग बन जाना संभव हो जाता है, जो अवतरण उसके शरीरको एक उच्चतर चेतना तथा उच्चतर प्रकृतिके नये सांचेमें ढालकर उसे एक उच्चतर अभिव्यक्तिका यंत्र बननेके लिये तैयार कर देगा।

तुममें जो क्रिया हो रही है वह यह है कि तुम्हारी चेतना इस मुक्त स्थितिमें अपने-आपको स्थापित करनेका यत्न कर रही है। जब साधक इस ऊपरके स्थानपर स्थित हो जाता है, तब वहां उसे आत्माकी स्वतंत्रता और विशाल शान्ति तथा अविचल स्थिरताकी उपलब्धि होती है—परन्तु इस स्थिरताको शरीरमें भी, समस्त निम्न स्तरोंमें भी ले आना है और उसे वहां इस प्रकार स्थापित कर देना है मानो कोई चीज पीछे खड़ी है और समस्त गतियोंको धारण किये हुए है।

*

*   *

यदि तुम्हारी चेतना सिरके ऊपर उठती है, तो उसका यह अर्थ है कि वह साधारण मनश्चेतनाका

अतिक्रमण कर ऊपरके उस केन्द्रमें जाती है जो उच्चतर चेतनाको ग्रहण करता है, अथवा वह स्वयं उच्चतर चेतनाके ही आरोहणात्मक स्तरोंकी ओर जाती है। इसका प्रथम परिणाम है आत्माकी निश्चल-नीरवता और शान्ति जो उच्चतर चेतनाकी आधार-भूमि है; इस निश्चल-नीरवता और शान्तिका पीछेसे निम्नतर स्तरोंमें, स्वयं शरीरमें भी अवतरण हो सकता है। इसी तरह ज्योति भी अवतरण कर सकती है और शक्ति भी। नाभिपद्म और उसके नीचेके जो चक्र हैं वे प्राणसंबंधी और शरीर-संबंधी चक्र हैं; हो सकता है कि उच्चतर शक्तिकी कोई चीज वहां अवतरित हुई हो।

श्रद्धा

अभीप्सा

आत्मसमर्पण

इस योगकी यह मांग है कि भगवत्सत्यका आविष्कार करने और उसे मूर्त्तिमान करनेकी अभीप्सामें इस जीवनका पूर्ण रूपसे उत्सर्ग कर दिया जाय, अन्य किसी भी कामके लिये नहीं, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। तुम अपने जीवनको एक तरफ भगवान् और दूसरी तरफ कोई संसारी लक्ष्य तथा कार्य, जिसका भागवत सत्यकी अन्वेषणासे कोई संबंध नहीं, इन दोनोंके बीच बांट दो यह इस योगमें नहीं चलेगा। इस तरहकी कोई साधारणसी बात भी योगकी सफलताको असंभव बना देगी।

तुमको अपने अन्तःमें प्रवेश करना होगा और आध्यात्मिक जीवनपर पूर्ण रूपसे उत्सर्ग होना आरंभ करना होगा। यदि तुम्हारी यह इच्छा है कि तुम इस योगमें सफलता लाभ करो, तो तुम्हें मनकी अभिरुचियोंके साथ किसी भी तरहका लगाव नहीं रखना होगा, प्राणगत आकांक्षाओं, स्वार्थों और आसक्तियोंके हठको अलग कर देना होगा तथा परिवार

बन्धुवर्ग और देशके साथ किसी भी प्रकारके अहं-वासनायुत लगावको दूर कर देना होगा । तुम्हारी बाह्य शक्ति या क्रियाके रूपमें भी जो कुछ आना है उसे भी उस सत्यसे ही आना होगा जो एक बार आविष्कृत हो चुका है, न कि निम्नतर मनोगत या प्राणगत वासनाओंसे, उसे भागवत संकल्पसे आना होगा न कि व्यष्टिगत पसन्द या अहंकारकी अभिरुचियोंसे ।

*

* *

मनोमय परिकल्पनाओंका कोई तात्त्विक महत्व नहीं है, कारण मन तो उन परिकल्पनाओंको बना लेता या उन्हें स्वीकार कर लेता है जो जीवके भगवान्‌की ओर पलट जानेका पोषण करती हैं । परन्तु जो बात महत्त्वपूर्ण है वह है तुम्हारा भगवान्‌की ओर पलट जाना और तुममें अन्दरकी पुकारका हो जाना ।

इस बातका ज्ञान कि वहां कोई परम सत्, चित् और आनन्द है, जो केवल अभावात्मक निर्वाण अथवा

स्थितिशील और निराकार कूटस्थ ही नहीं है बल्कि गतिशील भी है, यह अनुभव कि इस भगवच्चैतन्यका केवल इस संसारसे अलग होकर ही नहीं पर यहां भी साक्षात्कार किया जा सकता है तथा इसके फल-स्वरूप दिव्यजीवनकी प्राप्तिको योगके लक्ष्य रूपसे स्वीकार कर लेना यह सब मनकी चीजें नहीं हैं। यह किसी मनोमय परिकल्पनाका प्रश्न ही नहीं है—यद्यपि मानसिक तौरपर इस दृष्टिकोणका भी अच्छी तरह समर्थन किया जा सकता है, अधिक नहीं तो उतना समर्थन तो किया ही जा सकता है जितना किसी भी अन्य दृष्टिकोणका—बल्कि यह प्रश्न है अनुभवका, और जबतक यह अनुभव नहीं प्राप्त होता तबतक आत्माकी उस श्रद्धाका, जो मन और प्राणकी लगनको भी अपने साथ लाती है। जिसका उच्चतर प्रकाशके साथ संबंध है और जिसे अनुभव है वह इस मार्गका अनुगमन कर सकता है, फिर चाहे उसके निम्नतर अंगोंके लिये इसका अनुगमन करना कितना ही कठिन क्यों न हो। परन्तु जिसको इस उच्चतर प्रकाशका संस्पर्श हो चुका है पर अभी

अनुभव नहीं हुआ वह भी, यदि उसके हृदयसे पुकार उठी है, उसको पूरा निश्चय हो गया है, उसके अन्तरात्माकी लगनने उसे विवश कर दिया है, तो इस योगका अनुगमन कर सकेगा।

*

* *

भगवान्‌की कार्यशैली मानवी मनके तरीकोंकी तरह नहीं है अथवा वह हमारे बनाये हुए ढंगके अनुसार चलनेवाली नहीं है, इसलिये यह असंभव है कि हम उसके संबंधमें अपना निर्णय दे सकें अथवा उसके ऊपर अपने विचार लाद सकें, अर्थात् हम यह कहें कि उसे यह करना चाहिये और यह नहीं, कारण हम जितना जान सकते हैं भगवान् उससे कहीं अच्छा जानते हैं। यदि एक बार तुमने भगवान्‌की सत्ता स्वीकार कर ली तो मुझे लगता है कि सत्य तर्क और भक्ति ये दोनों ही एक होकर यह मांग उपस्थित करते हैं कि उनमें तुम्हारी श्रद्धा स्वतःसिद्ध होनी चाहिये और तुम्हारा समर्पण सर्वाङ्गसंपूर्ण।

साधकके लिये जो उचित भाव है वह यह है कि वह अपने मन और प्राणकी इच्छाको भगवान्‌पर न लादकर भगवान्‌की ही इच्छाको ग्रहण करे और उसका अनुसरण करे। यह नहीं कहना कि "यह मेरा अधिकार है, मांग है, दावा है, आवश्यकता है, प्रयोजन है और मैं इसे क्यों न प्राप्त करूं?" बल्कि अपने-आपको दे देना, आत्मसमर्पण कर देना और भगवान् जो कुछ भी दें उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेना; न तो दुखी होना और न विद्रोह करना—यही अच्छा मार्ग है। जब तुम्हारी इस प्रकारकी स्थिति हो जायगी तब तुम जो कुछ भी पाओगे वही तुम्हारे लिये उचित वस्तु होगी।

*

* *

श्रद्धा, भगवान्‌पर भरोसा, भागवत शक्तिके प्रति आत्मसमर्पण और आत्मदान ये आवश्यक और अपरिहार्य हैं। परन्तु ईश्वरपर भरोसा करनेके बहाने आलस्य और दुर्बलताको नहीं आने देना चाहिये

तथा निम्नप्रकृतिके आवेगोंके प्रति आत्मसमर्पण नहीं कर देना चाहिये; इस श्रद्धा और भरोसेके साथ-साथ अभीप्सा और भागवत सत्यके मार्गमें आनेवाली रुकावटोंका निरन्तर त्याग, ये भी चलते रहने चाहिये। भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देनेको, अपनी ही वासना और निम्नतर प्रवृत्तियोंके प्रति या अपने ही अहंकार अथवा अज्ञान और अंधकारकी किसी शक्तिके प्रति जो कि भगवान्‌का मिथ्या रूप धरकर आती है,—आत्मसमर्पण करनेकी एक आड़, अवसर या बहाना नहीं बना देना चाहिये।

*

*   *

तुम्हें केवल अभीप्सा करनी है, **माता**के प्रति अपने-आपको खोले रखना है, उनके संकल्पके जो कुछ विरुद्ध है उसका त्याग करना और उन्हें अपने अंदर कार्य करने देना है—साथ-ही-साथ तुम्हारा अपना समस्त काम भी उन्हींके लिये होना चाहिये और इस श्रद्धाके साथ होना चाहिये कि वह काम तुम

उन्हींकी शक्तिद्वारा करनेमें समर्थ हो रहे हो। यदि तुम इस तरहसे अपने-आपको खोलकर रख सको तो ज्ञान और साक्षात्कार तुम्हें यथासमय अवश्य प्राप्त हो जायंगे।

*

* *

इस योगमें सब कुछ इसी बातपर निर्भर करता है कि साधक दैवी प्रभावकी ओर अपने-आपको खोल सकता है या नहीं। यदि अभीप्सा सच्ची है तथा समस्त विघ्न-बाधाओंके होते हुए भी उच्चतर चेतनामें पहुंचनेका एक धीर संकल्प विद्यमान है, तो किसी-न-किसी रूपमें आत्मोद्घाटन हो जाना अवश्यंभावी है। परन्तु इसमें मन, हृदय और शरीरके तैयार होने या न होनेकी अवस्थाके अनुसार अल्प या दीर्घकाल लग सकता है। अतः यदि साधकमें आवश्यक धैर्य नहीं है तो हो सकता है कि वह आरंभमें जो कठिनाई होती है उसके कारण प्रयत्न करना छोड़ दे। इस योगकी इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं है कि साधक अपनी समस्त वृत्तियोंको एकाग्र करे,

ध्यान करे, अधिक उपयुक्त यह है कि यह ध्यान वह हृदयमें करे और वहाँ **माता**की उपस्थिति और शक्तिका आवाहन करे कि वे उसकी सत्ताको अपने हाथमें ले लें और अपनी शक्तिके प्रयोगद्वारा उसकी चेतनाको रूपान्तरित कर दें। साधक सिरके ऊपर (सहस्रारमें) अथवा भृकुटीके मध्य (आज्ञाचक्र) में भी ध्यान कर सकता है, पर यहां ध्यान करनेसे आत्मोद्घाटन करना बहुतोंके लिये अति कठिन होता है। जब मन शान्त हो जाता है और ध्यान प्रबल हो जाता है तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है, तब अनुभूतिका प्रारंभ होता है। श्रद्धा जितनी ही अधिक होगी परिणाम भी उतनी ही शीघ्रतासे होना संभव है। बाकीकी चीजोंके लिये साधकको अपने ही प्रयत्नपर निर्भर नहीं करना चाहिये, किन्तु भगवान्‌के साथ एक संबंध स्थापित करनेमें तथा **माता**की शक्ति और उपस्थितिके लिये ग्रहणशील बननेमें सफलता प्राप्त करनी चाहिये।

*
*   *

तुम्हारी प्रकृतिमें क्या दोष है इसकी कुछ परवाह नहीं। जिस बातकी परवाह करनी चाहिये वह यह है कि तुम भागवत शक्तिके सामने अपने-आपको खुला रखते हो या नहीं। कोई भी सहायताके बिना केवल अपने ही प्रयत्नोंसे अपना रूपान्तर नहीं कर सकता। केवल भागवत शक्ति ही है जो उसका रूपान्तर कर सकती है। यदि तुम अपना आत्मोद्घाटन किये रहो तो बाकी जो कुछ है वह सब तुम्हारे लिये कर दिया जायगा।

*

*   *

शायद ही कोई इतना बलवान होता है जो किसी दूसरी सहायताके बिना केवल अपनी ही अभीप्सा और संकल्पके द्वारा निम्नतर प्रकृतिकी शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर सके। जो ऐसा कर सकते हैं वे भी एक प्रकारका नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं परन्तु पूर्ण प्रभुत्व नहीं। भागवत शक्तिकी सहायताको नीचे उतार लानेके लिये और निम्नतर शक्तियोंसे

उनका जो मुकाबला होता है उसमें अपनी सत्ताको भागवत शक्तिकी ओर बनाये रखनेके लिये अवश्य ही अपने संकल्प और अभीप्साकी आवश्यकता है। हमारे आध्यात्मिक संकल्प और हृत्पुरुषकी अभीप्साको सार्थक करती हुई यह केवल भागवत शक्ति ही है जो इस विजयको ला सकती है।

*

* *

वैयक्तिक प्रकृति या मानव-प्रकृतिकी प्रवृत्तिके विरुद्ध जब कुछ करना होता है तब उसे केवल मानसिक संयमद्वारा कर लेना सदा ही कठिन है। अपने सुदृढ़ संकल्पको धैर्यपूर्वक और लगनके साथ प्रयुक्त करनेसे एक तरहका परिवर्त्तन तो किया जा सकता है, पर इसमें प्रायः एक दीर्घकाल लग जाता है और इसकी आरंभिक सफलता बहुधा आंशिक तथा बीच-बीचमें विफलताओंसे मिश्रित होती है।

अपनी समस्त क्रियाओंको आप-से-आप होनेवाली पूजाके रूपमें परिणत कर देना यह केवल विचार-संयम-

द्वारा नहीं किया जा सकता। इसके लिये हृदयसे होनेवाली एक ऐसी प्रबल अभीप्साकी आवश्यकता है जो उस देवकी विद्यमानताका कुछ साक्षात्कार या प्रतीति ले आ सके जिसे यह पूजा अर्पित की जाती है। भक्त केवल अपने ही प्रयत्नपर भरोसा नहीं रखता, किन्तु जिसकी वह आराधना करता है उस उपास्य देवकी कृपा और शक्तिका आश्रय ग्रहण करता है।

*

* *

तुमने सदा अपने ही मन-बुद्धि और संकल्पके प्रयत्नपर आवश्यकतासे अधिक भरोसा किया है—यही कारण है तुम आगे नहीं बढ़ सकते हो। यदि तुम **माता**की शक्तिपर चुपचाप भरोसा किये रहनेकी आदतको एक बार भी अपनेमें डाल सको और उनकी शक्तिका आवाहन केवल अपने प्रयत्नमें सहायता देनेके लिये ही न करो, तो तुम्हारी विघ्न-बाधाएं घटने लगेंगी और अन्तमें सर्वथा लोप हो जायंगी।

*

* *

योगके आधार

प्रत्येक सच्ची अभीप्साका अपना परिणाम होता है; और यदि तुम सच्चे हो तो दिव्य जीवनमें तुम अवश्य विकसित होओगे।

पूर्णत: सच्चे होनेका यह अर्थ है कि तुम्हें केवल भागवत सत्यकी ही इच्छा हो, तुम अपने-आपको भगवती माताके चरणोंमें अधिकाधिक समर्पित करते जाओ, इस एक अभीप्साके सिवा समस्त व्यक्तिगत कामना और वासनाको त्याग दो, जीवनका एक-एक कर्म भगवान्के अर्पण कर दो और कर्मको इस तरह करो जैसे तुम्हें यह काम सौंपा गया हो, परन्तु उसमें अहंकारका प्रवेश मत होने दो। दिव्य जीवनका यही आधार है।

कोई भी साधक इस अवस्थाको एकदम तो नहीं प्राप्त कर सकता, किन्तु यदि वह सत्य हृदय और सत्य संकल्पके साथ अहर्निश अभीप्सा करता तथा भागवत शक्तिकी सहायताका आवाहन करता है तो वह इस चेतनामें अधिकाधिक विकसित होता रहता है।

*

*   *

इतने अल्पकालमें पूर्ण समर्पण कर सकना संभव नहीं—कारण पूर्ण समर्पणका अर्थ है सत्ताके एक-एक अंगसे अहंकारकी ग्रन्थिका काट डालना और उसे मुक्तरूपमें तथा संपूर्णभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना। मन, प्राण और भौतिक चेतनाको (बल्कि इनके भी प्रत्येक भागको, इनकी समस्त क्रियाओंके सहित) एकके बाद एक अलग-अलग अपने-आपको समर्पित करना होगा, उन्हें अपने तरीकोंको छोड़ देना होगा और भगवान्‌के तरीकोंको अंगीकार करना होगा। किन्तु साधक जो कुछ कर सकता है वह यह है कि आरंभसे ही वह हार्दिक संकल्प करे और आत्मसमर्पण करे तथा जहाँ कहीं भी वह अपने-आपको खुला हुआ पावे वहीं इसका प्रयोग करे, और अपने आत्मदानको पूर्ण करनेके लिये प्रत्येक पदपर जो कोई भी अवसर सामने आवे उनमेंसे प्रत्येकका लाभ उठाता जाय। यदि एक दिशामें समर्पण हो जाता है तो वह दूसरी दिशाओंका समर्पण होना अधिक सुगम अधिक अपरिहार्य बना देता है। किन्तु एक दिशा या एक स्थानका समर्पण अन्य स्थानोंकी

ग्रन्थियोंको न तो आप-से-आप काट ही सकता है न उन्हें ढीली ही कर सकता है। विशेषतः वे ग्रन्थियां जो वर्त्तमान व्यक्तित्वके साथ घनिष्ठतापूर्वक बंधी हुई हैं, तथा वे संस्कार और मानसिक रचनाएं जो बहुत लाड़-प्यारसे पाली-पोसी गयी हैं, बराबर ही महान् कठिनाइयां उपस्थित कर सकती हैं, यहांतक कि समर्पणके प्रधान संकल्पके स्थापित हो जानेके बाद भी और इस संकल्पके कार्यमें परिणत हो जानेकी पहली मुहरछाप पड़ जानेके बाद भी ये कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं।

*

* *

तुम्हारा यह पूछना है कि उस भूलका, जिसे तुम समझते हो कि तुमने की है, कैसे परिहार किया जाय। यदि यह मान भी लिया जाय कि यह ऐसा ही है जैसा कि तुम कहते हो तो भी मुझे यही दिखायी देता है कि इसका ठीक-ठीक प्रतिकार यही है कि तुम अपने-आपको भागवत सत्य और भागवत प्रेमको

धारण करनेका एक पात्र बना लो। और ऐसा बननेके लिये जो प्रारंभिक कार्य करने हैं वे ये हैं कि तुम्हारा आत्मोत्सर्ग और आत्मशुद्धि संपूर्ण हो, भगवान्‌की ओर तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्घाटन हो और तुम्हारे अंदर जो भी ऐसी चीजें हों जो इस प्राप्तिमें बाधक हो सकती हों, उन सबका त्याग हो। आध्यात्मिक जीवनमें यदि कोई भूल हो जाय तो उसके लिये इसके अतिरिक्त और कोई परिहार या प्रायश्चित्त नहीं है—ऐसा और कोई प्रतिकार नहीं है जो पूरी तरहसे असर कर सके। आरंभमें साधकको इस आन्तर विकास और परिवर्त्तनको प्राप्त करनेके अतिरिक्त और किसी भी फल या परिणामकी मांग नहीं करनी चाहिये—नहीं तो वह अपने-आपको भयंकर निराशा-ओंका शिकार बना लेगा। जब कोई स्वयं स्वतंत्र हो जाता है तभी वह दूसरोंको स्वतंत्र कर सकता है और योगमें तो आन्तर विजयके द्वारा ही बाह्य विजय हुआ करती है।

*

*   *

व्यक्तिगत प्रयत्नके झोंकसे एकाएक छुटकारा पा लेना संभव नहीं है—और यह सदा वांछनीय भी नहीं है; कारण तामसिक जड़तासे व्यक्तिगत प्रयत्न अच्छा है।

व्यक्तिगत प्रयत्नको उत्तरोत्तर इस तरह रूपान्तरित करना होगा जिसमें वह भागवत शक्तिके कर्मके रूपमें परिवर्त्तित होता जाय। यदि तुम्हें भागवत शक्तिका जागृत अनुभव होता है तो तुम इसका अपने अंदर अधिकाधिक आवाहन करो, कि यह शक्ति तुम्हारे प्रयत्नपर शासन करे, उसे अपने हाथमें ले ले और उसको एक ऐसी चीजमें रूपान्तरित कर दे जो तुम्हारी नहीं, बल्कि **माता**की हो। यहांपर एक तरहका हस्तान्तर होगा, अर्थात् जो शक्तियां इस समय व्यक्तिगत आधारमें कार्य कर रही हैं वे **माता**-द्वारा अधिकृत कर ली जायंगी; अवश्य ही यह हस्तान्तर एकबारगी ही पूरा नहीं होगा, बल्कि क्रमशः बढ़ता जायगा।

परन्तु इसके लिये अन्तरात्माकी समास्थितिका होना आवश्यक है; वह विवेक अवश्य विकसित हो

जाना चाहिये जो ठीक-ठीक यह देख सके कि क्या तो भागवत शक्ति है और कितना इसमें व्यक्तिगत चेष्टाका अंश है, तथा कौन-कौन वस्तुएं इसमें—मिश्रण रूपसे—निम्नतर विश्वशक्तियोंसे लायी गयी हैं। और जबतक यह हस्तान्तर—जिसमें कुछ समय तो सदा लगता ही है—पूर्ण न हो जाय, तबतक इस कार्यमें, अपने व्यक्तिगत हिस्सेके तौरपर, सत्य शक्तिको सतत स्वीकृति देते रहना और किसी भी निम्नतर विश्वशक्तिके मिश्रणका सतत त्याग अवश्य करते रहना चाहिये।

इस समय तुम्हें जिस बातकी आवश्यकता है वह यह नहीं है कि तुम व्यक्तिगत प्रयत्न छोड़ दो, बल्कि यह है कि तुम अपने अंदर भागवत शक्तिका अधिकाधिक आवाहन करो और उसीके द्वारा अपने वैयक्तिक प्रयासको शासित और परिचालित करो।

*

* *

साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें यह सलाह नहीं दी जा सकती कि साधक यह आशा रखे कि उसके वैयक्तिक प्रयत्नकी आवश्यकताके बिना ही सब कुछ भगवान्‌की ओरसे हो जायगा। यह तो तभी संभव होता है जब हृत्पुरुष सामने रहता और समस्त क्रियाओंपर अपना प्रभाव डालता रहता है (और तब भी चौकसी रखना और बराबर अपनी स्वीकृति देते रहना आवश्यक है), या फिर यह उस समय संभव होता है जब कि आगे चलकर अर्थात् योगकी अन्तिम अवस्थाओंमें, सीधे या लगभग सीधे विज्ञानमय लोकसे आनेवाली शक्ति, चेतनाको अपने हाथमें ले लेती है; परन्तु यह अवस्था अभी बहुत अधिक दूर है। इनसे भिन्न किसी अवस्थामें यह (वैयक्तिक प्रयत्नरहित भगवान्‌पर सब कुछ छोड़ देनेका) भाव रखनेसे साधनाके अटक जाने तथा जड़ताके आ जानेकी पूरी संभावना रहती है।

सत्ताके जो भाग बहुत कुछ यंत्रवत् काम करते हैं वे ही वस्तुतः यह कह सकते हैं कि "हम निरुपाय

हैं ;" विशेषतः, भौतिक (अन्नमय) चेतना अपने स्वभावसे ही जड़ है और वह या तो मनकी और प्राणकी शक्तिसे या उच्चतर शक्तियोंसे गतियुक्त होती है। किन्तु साधकके पास यह शक्ति तो सदा ही मौजूद है कि वह अपने मनोमय संकल्प अथवा प्राणमय आवेगको भगवान्‌की सेवामें लगा दे। पर निश्चित रूपसे उसे यह नहीं मान लेना चाहिये कि इसका फल उसे तुरत मिलेगा, कारण बहुधा निम्नतर प्रकृतिकी बाधा अथवा विरोधी शक्तियोंका दबाव कुछ कालतक या एक दीर्घ कालतक इस आवश्यक परिवर्त्तनको रोके रखनेमें सफल हो सकता है। ऐसी अवस्थामें साधकको लगन लगाये रहना चाहिये, सदा-सर्वदा अपने संकल्पको भगवान्‌के पक्षमें रखना चाहिये और जिस वस्तुका त्याग करना है उसका त्याग करते हुए, अपने-आपको सत्य-ज्योति और सत्य-शक्तिकी ओर उद्घाटित रखते हुए इनका स्थिरता और दृढ़ताके साथ बिना थके हुए और बिना निरुत्साहित या अधीर हुए, उस समयतक आवाहन करते जाना चाहिये जबतक कि साधक यह अनुभव

न करने लगे कि उसमें भागवत शक्ति कार्य कर रही है और बाधाएं दूर हटना आरंभ कर चुकी हैं।

तुम्हारा कहना है कि तुम्हें अपने अज्ञान और अंधकारका भान है। किन्तु यह भान यदि मामूली तौरका ही है तो यह पर्याप्त नहीं। परन्तु यदि तुम इसे ब्यौरेके साथ जानते हो और यदि इसे वस्तुतः अन्दर कार्य करते हुए जानते हो तो यह कार्य प्रारंभ करनेके लिये पर्याप्त है। अब जिन अज्ञानमय क्रियाओंका तुम्हें भान हो रहा है उनका दृढ़ताके साथ त्याग करना होगा और अपने मन और प्राणको भागवत शक्तिके कार्यके लिये एक शान्त और शुद्ध क्षेत्र बना देना होगा।

*

* *

यंत्रवत् होनेवाली चेष्टाओंको मानसिक संकल्पके द्वारा रोकना सदा कठिन होता है, कारण इन चेष्टाओंका होना तर्क या किसी मानसिक औचित्यपर जरा भी निर्भर नहीं करता, ये तो साहचर्यपर या

यंत्रवत् काम करनेवाली स्मृति या आदतपर अपना आधार रखती हैं।

इनको त्याग करते रहनेका अभ्यास अन्तमें विजयी होता है; किन्तु केवल व्यक्तिगत प्रयत्नके द्वारा किये जानेसे इसमें दीर्घकाल लग जाय यह हो सकता है। परन्तु यदि तुम अपनेमें भागवत शक्तिको काम करते हुए अनुभव कर सको तो यह काम अधिक सहज हो जायगा।

भगवत्-परिचालनको आत्म-दान करनेकी क्रियामें तुम्हारा कोई भाग निष्क्रिय या तामसिक नहीं रहना चाहिये और दूसरी ओर इस बातसे सावधान रहना चाहिये कि तुम्हारे प्राणका कोई भाग इस आत्म-दान को अपने निम्न आवेश और वासनाके सुझावोंको त्याग न करनेका एक बहाना न बना ले।

योग-साधन करनेकी सदा दो विधियाँ होती हैं—एक है जागृत मन और प्राणके कार्यकी विधि, जिसमें मन और प्राण जागृत रहकर देखते हैं, निरीक्षण

करते हैं, विचार और निर्णय करते रहते हैं कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं । अवश्य ही उनके कार्यके पीछे भागवत शक्ति रहती है; इस शक्तिको अपनेमें ले आने या आवाहन करनेकी सहायता इसमें ली जाती है—कारण यदि ऐसा न किया जाय तो कुछ भी विशेष कार्य नहीं हो सकता । किन्तु तो भी इस विधिमें व्यक्तिगत प्रयत्न ही प्रधान रहता है और वही साधनाके अधिकांश भारको वहन करता है ।

दूसरी विधि है हृत्पुरुषकी, इसमें चेतनाको भगवान्‌की ओर उद्घाटित करनी होती है । चेतना न केवल हृत्पुरुषको ही उद्घाटित कर देती और उसे सामने ले आती है, बल्कि मन, प्राण और शरीरका भी उद्घाटन कर देती है, ज्योतिको ग्रहण करती है, क्या करना है इसका ज्ञान प्राप्त करती है तथा उसे स्वयं भागवत शक्तिद्वारा किया जाता हुआ देखती और अनुभव करती है और इस भागवत कार्यमें अपनी सजाग और सचेतन स्वीकृति प्रदानद्वारा तथा आवाहनद्वारा सतत सहयोग करती रहती है ।

चेतना जबतक पूर्ण रूपसे उन्मीलित हो जानेके लिये तैयार नहीं होती तथा अपने समस्त कार्योंका प्रारंभ भगवान्के द्वारा ही हो, इस बातके लिये अपने-आपको पूर्ण रूपसे भगवान्के अधीन नहीं कर देती तबतक बहुधा यही होता है कि ये दोनों ही विधियाँ मिली-जुली रहें। किन्तु जब यह हो जाता है तब साधकका समस्त उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है और उसके कन्धोंपर कोई व्यक्तिगत भार नहीं रह जाता।

*

*   *

तपस्यासे हो या आत्मसमर्पणसे, किस तरहसे हो इसका कुछ महत्व नहीं, परन्तु मुख्य बात यह है कि साधकको अपनी दृष्टि लक्ष्यकी ओर ही रखनेमें दृढ़ होना चाहिये। एक बार जब इस मार्गपर पग रख लिया तो यह कैसे हो सकता है कि किसी हीन वस्तुकी ओर जानेके लिये इस मार्गसे पैर हटाया जाय? यदि साधक दृढ़ रहता है तो पतनकी परवाह

नहीं, कारण वह फिर उठता है और आगे बढ़ता है। यदि साधक अपने लक्ष्यपर दृढ़ है तो भगवान्‌के पास पहुंचनेके इस मार्गमें अंतिम विफलता हो ही नहीं सकती। और यदि तुम्हारे अंदर कोई वस्तु है जो तुम्हें आगे बढ़नेको प्रेरित करती है—और निश्चय ही वह तुममें है—तो ठोकरें खानेसे या पतनोंसे अथवा श्रद्धामें भङ्ग पड़ जानेसे अन्तिम परिणाममें कुछ फरक नहीं पड़ता। साधकको उस समयतक लगे रहना है जबतक कि संघर्ष समाप्त न हो जाय और सीधा, खुला हुआ और निष्कंटक मार्ग हमारे सामने न आ जाय।

*

*   *

यह अग्नि, अभीप्सा और आन्तर तपस्याकी दिव्य अग्नि है। मानवी अज्ञानके अंधकारमें यह अग्नि जब वर्धमान शक्ति और परिमाणमें बारंबार अवतरण करती है, तब पहले यही दिखायी देता है कि यह अंधकार इसको निगलता जाता और इसे अपनेमें

विलीन करता जाता है, किन्तु इसका अधिकाधिक अवतरण इस अंधकारको प्रकाशमें परिणत कर देता है, मानवी मनके अज्ञान और अचेतनाको आध्यात्मिक चैतन्यमें बदल देता है।

*

* *

योगसाधन करनेका अर्थ ही यह है कि साधना करनेवाला समस्त आसक्तियोंपर विजय पाने तथा केवल भगवान्‌की ओर ही अभिमुख होनेका संकल्प रखता है। योगमें मुख्य बात ही यह है कि प्रत्येक पदपर भागवत कृपामें विश्वास रखा जाय, विचारोंको लगातार भगवान्‌की ओर लक्षित किया जाय और आत्म-समर्पण किया जाय जबतक कि सत्ताका उद्घाटन न हो जाय और आधारमें **माता**की शक्ति काम करती हुई अनुभूत न की जा सके।

*

* *

इस योगका सारा सिद्धान्त ही यह है कि आते हुए भागवत प्रभावके लिये साधक अपने-आपको

उद्घाटित करे। यह प्रभाव तुम्हारे ऊपर ही है, और यदि तुम एक बार इससे सचेतन हो सको तो तुम्हारा यह काम होगा कि तुम उसको नीचे अपने अंदर आवाहन करो। यह मनमें और शरीरमें अवतरित होता है शान्तिके रूपमें, एक ज्योतिके रूपमें, काम करती हुई एक शक्तिके रूपमें, साकार या निराकार भगवान्‌की उपस्थितिके रूपमें और आनन्दके रूपमें। परन्तु इस चेतनाको प्राप्त करनेके पहले साधकको श्रद्धा रखनी होगी और आत्मोद्घाटनके लिये अभीप्सा करनी होगी। अभीप्सा, आवाहन और प्रार्थना एक ही चीजके भिन्न-भिन्न रूप हैं और सभी कारगर होते हैं, इनमेंसे जो भी रूप तुम्हारे सामने आता हो या तुम्हारे लिये सबसे अधिक सहज हो उसीको तुम अपना सकते हो। दूसरा तरीका है एकाग्रता; इसमें तुम अपनी चेतनाको हृदयमें एकाग्र करते हो (कुछ लोग सिरमें या सिरके ऊपर चेतनाको एकाग्र करते हैं) और हृदयमें **माता**का ध्यान करते हो तथा उनका वहां आवाहन करते हो। साधक इनमेंसे कोई भी एक तरीका या भिन्न-भिन्न

समयपर दोनों ही तरीके बरत सकता है—जिस समय जो स्वभावतः तुम्हारे सामने आता हो अथवा जैसा करनेकी प्रवृत्ति तुममें उस समय पैदा होती हो। विशेष करके आरंभमें जिस बातकी अत्यन्त आवश्यकता है वह है मनको अचंचल करना, ध्यानके समय जो विचार और वृत्तियाँ ऐसी आती हों जो साधनाके लिये विजातीय हों, उन सबका त्याग करना। इस तरह किये हुए अचंचल मनमें अनुभूति प्राप्त करनेके लिये क्रमशः तैयारी होती जायगी। किन्तु सब कुछ यदि एक ही साथ न हो तो तुम्हें कदापि अधीर नहीं हो जाना चाहिये; मनमें अचंचलताका पूर्ण निवास हो इसमें कुछ समय लग ही जाता है। जबतक चेतना तैयार न हो जाय तबतक तुम्हें इस क्रमको जारी रखना है।

*

* *

योगसाधनामें जिस बातपर तुम्हारा लक्ष्य है उसकी प्राप्ति तुम्हें तभी हो सकती है जब तुम

माताकी शक्तिकी ओर अपनी सत्ताका उद्घाटन करो तथा भागवत सत्यको पानेकी अभीप्साके अतिरिक्त शेष सब अभिलाषाओं, सब इच्छाओं, सब मांगों तथा सब अहंभावोंका लगातार त्याग करते जाओ। इसको यदि ठीक तरहसे कर सको तो भागवत शक्ति और ज्योति काम करना आरंभ कर देंगी और तुम्हारे अंदर शान्ति और समता, आन्तरिक बल, शुद्ध भक्ति, वर्धमान चैतन्य एवं आत्मज्ञानको ला देंगी जो कि योगसिद्धिके लिये आवश्यक आधार हैं।

*

* *

तुम्हारे लिये सत्य यह है कि तुम अपने अंदर भगवान्‌को अनुभव करो, **माता**की ओर उद्घाटित होओ और भगवान्‌के लिये कर्म किये जाओ, जबतक तुम अपनी संपूर्ण क्रियाओंमें **माता**को न अनुभव करने लगो। तुममें यह चेतना होनी चाहिये कि तुम्हारे हृदयमें दिव्य सत्ता उपस्थित है और तुम्हारे समस्त कर्म दिव्य सत्ताद्वारा

परिचालित हो रहे हैं। इस अनुभवको हृत्पुरुष सुगमतापूर्वक, शीघ्रतासे और गहराईके साथ कर सकता है यदि वह पूर्ण रूपसे जागृत हो। और एक बार हृत्पुरुष यदि इसे अनुभव कर ले तो यह चेतना मन और प्राणतक भी फैल सकेगी।

*

*   *

तुम्हारी दूसरी अनुभूतिमें—जो कि तुम्हें अनुभवके समय इतनी सत्य प्रतीत होती है—एकमात्र सत्य यह है कि तुम्हारा अथवा अन्य किसीका तुम्हारे या उसके अपने ही प्रयत्नसे, बिना किसी दूसरी सहायताके, इस हीन चेतनासे बाहर निकल आना असंभव है, इसीलिये जब तुम इस हीन चेतनामें डूब जाते हो तब तुमको सब कुछ असंभव दिखायी देता है, कारण उस समयतकके लिये तुम सत्य चेतनाके अवलंबनको खो देते हो। परन्तु तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है, कारण तुम्हारा भगवान्‌की

ओर आत्मोद्घाटन है और इसलिये तुम हीन चेतनामें बंधे रहनेके लिये बाध्य नहीं हो।

यद्यपि अभी थोड़ासा आरंभ ही हुआ है फिर भी जिस समय तुम सत्य चेतनामें होते हो उस समय तुमको यह दिखायी देता है कि सब कुछ किया जा सकता है; परन्तु दिव्य शक्ति, दिव्य बल जब वहां पहुंच गये हैं तो यह आरंभ भी पर्याप्त है। कारण सत्य यह है कि वह दिव्य शक्ति सब कुछ कर सकती है और आमूल रूपान्तर तथा आत्मसिद्धिके लिये केवल समय और अन्तरात्माकी अभीप्साकी आवश्यकता है।

*

*   *

माताके दिव्य संकल्पका अनुसरण करनेके लिये जो शर्तें हैं वे ये हैं कि साधक **ज्योति** और **सत्य** और **शक्ति**को पानेके लिये उनकी ओर अभिमुख हो, यह अभीप्सा करे कि दूसरी कोई भी शक्ति

न तो उसपर प्रभाव डाल सके न उसका नेतृत्व कर सके, उसके प्राण अपनी ओरसे न तो कोई मांग पेश करें न कोई शर्त लगावें, अपने मनको वह इतना शान्त रखे कि वह सत्यको ग्रहण करनेके लिये तैयार रहे और अपने ही विचारों तथा रचनाओंके लिये जरा भी आग्रह न करे—अन्तमें वह अपने हृत्पुरुषको जागृत और सामने रखे जिससे कि वह उसके साथ सतत संबंधमें रह सके और यथार्थ रूपसे यह जान सके कि **माताका** संकल्प क्या है; कारण मन और प्राण अन्य आवेशों और निर्देशोंको भागवत संकल्प समझ लेनेकी भूल कर सकते हैं, किन्तु हृत्पुरुष जहां एक बार जागृत हो गया तो वह कोई भूल नहीं करता।

कर्म करनेमें पूर्ण सिद्धि तो तभी संभव है जब कि दिव्यीकरण (विज्ञानमयी शक्तिद्वारा रूपान्तर) हो चुका हो। किन्तु अपेक्षाकृत अच्छी तरह कर्म करनेका सामर्थ्य पा लेना विज्ञानसे नीचेके स्तरोंमें

भी संभव है, यदि साधकका भगवान्के साथ संबंध स्थापित हो चुका हो और वह मनमें और प्राणमें और शरीरमें सावधान, जागृत और सचेत हो। यह वह अवस्था है जो साधकको परममुक्तिके लिये तैयार करनेवाली है और प्रायः अपरिहार्य है।

*

* *

जो कोई एकरस जीवनसे डरता है और कुछ नवीनता चाहता रहता है वह योग—कम-से-कम इस योगको नहीं कर सकेगा। इस योगमें अक्षय धैर्य और सतत तत्परताकी आवश्यकता है। मृत्युसे भय होना एक प्राणगत दुर्बलताको प्रकट करता है और यह भी योगसाधनकी योग्यताके विरुद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई अपने आवेगोंके वशीभूत रहता है तो वह भी इस योगको दुःसाध्य ही पावेगा और यदि अंदरसे आध्यात्मिक चैतन्य तथा भगवान्से एकता प्राप्त करनेके लिये एक सच्ची और दृढ़ अभीप्सा तथा एक आन्तरिक सच्ची पुकार

उसे सहारा नहीं देती हैं तो उसका सहज ही विनाशकारी पतन हो सकता है और उसके प्रयास निष्फल जा सकते हैं।

*

*   *

अब रहा "कर्म करने" के संबंधमें, सो इस शब्दसे तुम्हारा क्या अभिप्राय है, इस बातपर इसका उत्तर निर्भर करता है। कामनापूर्वक कर्म करनेसे बहुधा या तो प्रयत्नमें अति हो जाती है जिसका परिणाम प्राय: यह होता है कि परिश्रम तो बहुत करना पड़ता है पर फल अल्प ही होता है और साथ ही साधक-पर बहुत जोर पड़ता है और बड़ी थकावट आ जाती है और यदि बीचमें कोई कठिनाई उपस्थित होती या विफलता होती है तो निराशा, अविश्वास या विद्रोह-भाव उत्पन्न हो जाते हैं, या फिर इससे (कामनापूर्वक कर्म करनेसे) यह होता है कि साधक शक्तिको जबरन उतारनेकी चेष्टा करता है। ऐसी चेष्टा की जा

सकती है, किन्तु उन लोगोंको छोड़कर जो यौगिक दृष्टिसे बलवान और अनुभवसिद्ध हैं, शेष साधारण साधकोंके लिये तो ऐसा करना सदा निरापद नहीं है, यद्यपि, यह बहुधा अत्यन्त फलदायक हो सकता है। निरापद इसलिये नहीं है कि, प्रथम तो इसका यह परिणाम हो सकता है कि इससे भयानक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाय अथवा यह ऐसी विपरीत या अशुद्ध या मिश्रित शक्तियोंको उतार लावे जिनको सत्य-शक्तिसे पृथक् समझनेके लिये साधकको अभी पर्याप्त अनुभव नहीं हुआ है। या फिर यह हो सकता है कि यह साधकके अपने ही निजी अनुभवकी परिसीमित शक्तिको या उसके मानसिक और प्राणगत रचनाओंको भगवान्‌की स्वाभाविक देन और सत्य प्रेरणाका स्थान दे दे। भिन्न साधकोंकी भिन्न अवस्थाएं होती हैं। साधना करनेके लिये हरएकका अपना अलग मार्ग है। परन्तु तुम्हारे लिये जो मेरा परामर्श है वह है अपनेको सतत उद्घाटित रखना, धीर-स्थिर अभीप्सा करना, अत्यधिक उत्सुक न होना और उल्लासपूर्ण विश्वास और धैर्य रखना।

यह बड़ी मूर्खताकी बात है यदि कोई समयसे पहले ही यह दावा करे कि उसने विज्ञानको पा लिया है या उसका कुछ रसास्वादन कर लिया है। इस प्रकारके दावेके साथ प्रायः अतिशय अहंकारकी बाढ़, कोई मूलगत भ्रान्ति या भारी पतन, मिथ्या अवस्था और मिथ्या गति लगी रहती है। एक प्रकारकी आध्यात्मिक नम्रता, अपने आपपर एक गभीर अभिमानशून्य दृष्टि तथा अपनी वर्त्तमान प्रकृतिकी अपूर्णताओंका शान्त निरीक्षण और स्वात्ममानता तथा स्वात्मस्थापनकी अपेक्षा अपनी वर्त्तमान आत्म-सत्ताका अतिक्रमण करनेकी आवश्यकताका भान—अहंकारयुत उच्चाकांक्षाकी प्रेरणाके वश नहीं पर भगवन्मुखी प्रेरणाके वश—ये हैं जो मेरी समझमें इस नश्वर पार्थिव मानवी रचनावाले जीवके लिये विज्ञानमय परिवर्त्तनकी ओर अग्रसर होनेके लिये बहुत अधिक अनुकूल अवस्थाएं सिद्ध होंगी।

*

*   *

योगके आधार

अब तुमने अन्नमय भूमिकामें हृत्पुरुषके समर्पणको अनुभव करना आरंभ किया है।

तुम्हारे सभी अंग साररूपसे अर्पित हो चुके हैं, किन्तु इन सभी अंगोंमें और उनकी समस्त गतियोंमें, पृथक्-पृथक् और संयुक्त रूपमें उत्तरोत्तर बढ़नेवाली हृत्पुरुषकी आत्मांजलिद्वारा, इस समर्पणको पूर्ण कर लेना होगा।

भगवान्के द्वारा भोग किये जानेका अर्थ है साधकका भगवान्को इस प्रकार समर्पित हो जाना जिसमें वह यह अनुभव करता है कि भगवान्की **उपस्थिति, शक्ति, ज्योति, आनन्द**ने ही उसकी समस्त सत्ताको अधिकृत कर रखा है, न कि इनको उसने अपनी तृप्तिके लिये अपने अधिकारमें कर रखा है। इनपर स्वयं अधिकार करनेवाला बननेकी अपेक्षा इस प्रकार समर्पित होने और भगवान्द्वारा अधिकृत होनेमें बहुत अधिक आनन्दोल्लास है। साथ ही इस प्रकारके आत्मसमर्पणसे अपने-आप-

पर और प्रकृतिपर एक स्थिर और आनन्दप्रद प्रभुत्व भी स्थापित हो जाता है।

*

* *

हृत्पुरुषको सामने ले आओ और उसे वहीं रखकर मन, प्राण और शरीरपर उसका प्रभाव इस प्रकार डालते जाओ जिससे कि वह अपनी अनन्य अभीप्सा, विश्वास, श्रद्धा, समर्पण तथा प्रकृतिमें जो कुछ अशुद्ध है और जो कुछ **ज्योति** और **सत्य**से विमुख है, अहंकार और भ्रान्तिकी ओर झुका हुआ है, उसे स्वयमेव और तुरत जान लेनेकी अपनी शक्तिको उन (मन, प्राण और शरीर) तक पहुंचा दे।

अहंकारको, उसके प्रत्येक रूपको निकाल बाहर करो; तुम्हारी चेतनाकी प्रत्येक गतिमेंसे उसे निकाल बाहर करो।

विराट चेतनाका विकास करो—तुम्हारी अहंकेन्द्रिक दृष्टि विस्तीर्णता, नैर्व्यक्तित्व, विराट पुरुषके बोध,

विश्वशक्तियोंके भान तथा विराट अभिव्यक्ति अर्थात् विश्वलीलाके बोध और साक्षात्कारमें विलुप्त हो जाय।

अहंकारके स्थानपर सत्य सत्ताको प्राप्त करो—जो कि भगवान्का ही एक अंश है, **जगदम्बासे** आया है तथा जो इस व्यक्तीकरणका एक यंत्र है। भगवान्का अंश और यंत्र होनेकी जो यह प्रतीति है वह समस्त अभिमान और अहंकारके भान या अधिकारसे अथवा श्रेष्ठत्वस्थापन, मांग या वासनासे रहित होनी चाहिये। कारण यदि ये तत्व उसमें हैं तो वह सत्य सत्ता नहीं है।

अधिकांश साधक योगसाधन करते हुए ऐसे मन, प्राण और शरीरमें रहते हैं जो कभी-कभी ही या किसी अंशतक ही उच्चतर मानस और संबुद्ध मानससे प्रदीप्त होते हैं; किन्तु विज्ञानमय परिवर्त्तनके लिये तैयार होनेमें यह आवश्यक है (ज्योंही उस व्यक्तिविशेषके लिये समय उपस्थित

हो) कि वह अन्तर्ज्ञान और अधिमानसकी ओर उद्घाटित हो जाय, जिसमें कि ये समस्त आधार और समस्त प्रकृतिको विज्ञानमय रूपान्तरके लिये प्रस्तुत कर दें। चेतनाका शान्तिपूर्वक विकास होने दो और उसे फैलने दो। फिर इन चीजोंका ज्ञान क्रमशः एकके बाद एक आप ही होता जायगा।

स्थिरता, विवेक, अनासक्ति (उदासीनता नहीं) ये सब-के-सब अत्यन्त आवश्यक हैं, कारण इनके विरोधी भाव रूपान्तर करनेवाली क्रियामें बहुत बाधा पहुंचाते हैं। अभीप्साकी तीव्रता तुममें होनी चाहिये, परन्तु इसको इनके संग-संग ही चलना चाहिये। न उतावली हो न आलस्य, न राजसिक अत्युत्साह हो न तामसिक निरुत्साह—बल्कि एक धीर तथा लगातार पर शान्त आवाहन और क्रिया होनी चाहिये। सिद्धिको झपट लेने या पकड़ लेनेकी चेष्टा नहीं करनी होगी, बल्कि इसको स्वयमेव अन्तःसे या ऊर्ध्वसे आने देना

होगा और इसके क्षेत्र, स्वभाव और सीमाओंका ठीक-ठीक निरीक्षण करते रहना होगा ।

माताकी शक्तिको अपने अंदर कार्य करने दो, लेकिन इस बातसे सावधान रहो कि उस शक्तिके स्थानपर कोई बढ़ी हुई अहंकारकी क्रिया न होने लगे अथवा अपनेको **सत्य** जताती हुई कोई अज्ञानकी शक्ति न काम करने लगे या उसमें इसका मिश्रण न हो जाय । इस बातकी विशेष रूपसे अभीप्सा करो कि प्रकृतिमेंसे संपूर्ण अंधकार और अचेतना दूर हो जाय ।

विज्ञानमय रूपान्तरकी तैयारीके लिये उपरोक्त प्रधान शर्तें हैं; परन्तु इनमेंसे कोई भी सहज नहीं है, और प्रकृति तैयार हो गयी ऐसा कहा जा सकनेके पहले इन शर्त्तोंका पूरा हो जाना आवश्यक है । तो भी यदि सत्य भाव (हृत्पुरुषका, अहंकार-शून्य, जो केवल भागवत शक्तिकी ओर ही उद्घाटित हो) स्थापित किया जा सके तो यह प्रक्रिया बहुत शीघ्र गतिसे आगे बढ़ सकती

है। इस प्रकारकी सहायता दी जा सकती है कि साधक सच्चा भाव रखे और उसे बनाये रहे, उसके अपने अन्दर जो परिवर्त्तन होता है उसे आगे बढ़ाये चले, परन्तु एक बात जो साधकसे मांगी जाती है वह यह है कि उसका जो सर्वाङ्गीण परिवर्त्तन हो रहा है उसमें वह सहायता देता रहे।

कठिनाईमें

साधनाकी आरंभिक अवस्थामें कठिनाइयां बराबर ही उपस्थित हुआ करती हैं और उन्नति रुक-रुककर होती है और जबतक कि आधार तैयार नहीं हो जाता तबतक अंदरके द्वारोंका उद्घाटन होनेमें विलंब होता ही है। जब कभी तुम ध्यान करते हो तब यदि तुम्हें स्थिरताका अनुभव होता है, आन्तर ज्योतिका प्रकाश मिलता है और तुम्हारी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो रही है कि वह बाह्य बंधनको क्षीण कर रही है तथा प्राणगत उपद्रव अपनी शक्ति खो रहे हैं तो यह इतना होना ही एक महान् उन्नति है। योगका मार्ग लंबा है, इस मार्गकी एक-एक चप्पा भूमिपर प्रतिरोधका कठिन मुकाबला करके विजय प्राप्त करनी होती है, तथा साधकमें जिस गुणकी सबसे अधिक आवश्यकता है वह है धैर्य, अनन्य लगन और ऐसी श्रद्धा जो समस्त कठिनाइयों, विलंब और बाहरसे दिखायी देनेवाली विफलताओंके होते हुए भी दृढ़ बनी रहे।

*

* *

ये बाधाएं साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें प्रायः हुआ ही करती हैं। इनके होनेका कारण यह है कि अभी तुम्हारी प्रकृति पर्याप्त रूपसे ग्रहणशील नहीं हुई है। तुमको इसका पता लगाना चाहिये कि यह बाधा कहांपर है, मनमें है या प्राणमें और जहां यह हो, वहांपर चेतनाका विस्तार करनेका यत्न करना चाहिये तथा अधिकाधिक पवित्रता और शान्तिका आवाहन करना चाहिये एवं इस पवित्रता और शान्तिकी अवस्थामें अपने आधारके उस भागको जहां यह बाधा होती है, सच्चाईके साथ और पूर्ण रूपसे भागवत शक्तिके अर्पण करना चाहिये।

*

*   *

प्रकृतिका प्रत्येक अंग अपनी पुरानी प्रवृत्तियोंके अनुसार चलना चाहता है और, जहांतक उसकी शक्ति काम कर सकती है वहांतक, किसी आमूल परिवर्त्तन और विकासको स्वीकार करना नहीं चाहता,

कारण ऐसा होनेसे वह अपनेसे किसी उच्चतर वस्तुके अधीन हो जायगा और अपने ही क्षेत्रमें, अपने ही अलग साम्राज्यमें वह अपने स्वामित्वसे वंचित हो जायगा। यही बात है जिसके कारण रूपान्तरकी प्रक्रिया इतनी लंबी और कठिन हो जाती है।

मन शिथिल हो जाता है, कारण उसके निम्नतर भागमें भौतिक मन है जिसका स्वभाव ही तामसिक या जड़ है—क्योंकि जड़ता स्थूल पदार्थका मूलगत गुण है। उच्चतर अनुभूतियोंके लगातार अथवा दीर्घकालतक जारी रहनेसे मनके इस भागमें एक प्रकारकी थकावटका भान अथवा बेचैनी या शिथिलताकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। इससे बचनेके लिये समाधि एक उपाय है—समाधिद्वारा शरीर निश्चल कर दिया जाता है, भौतिक मन एक प्रकारसे निश्चेष्ट हो जाता है और आन्तरिक चेतना अपनी अनुभूतियोंको करनेके लिये स्वतंत्र हो जाती है। परन्तु इससे एक हानि भी है और वह यह कि समाधि अनिवार्य हो जाती है और जागृत चेतनाके

प्रश्नका समाधान नहीं हो पाता, वह अपूर्ण ही रह जाती है।

*

* *

यदि ध्यान करनेमें कठिनाई यह होती है कि नाना प्रकारके विचार घुस आते हैं तो यह किसी विरोधी शक्तिके कारण नहीं है, बल्कि मानव-मनके साधारण स्वभावके कारण ही ऐसा होता है। यह कठिनाई प्रत्येक साधकको होती है और बहुतोंको तो एक अति दीर्घकालतक रहती है। इससे छुटकारा पानेके कई तरीके हैं। इनमेंसे एक तो यह है कि साधक इन विचारोंको देखे और ये विचार मानव-मनकी प्रकृतिको कैसा प्रदर्शित करते हैं इसका सूक्ष्म अवलोकन करे, परन्तु उन्हें किसी प्रकारकी स्वीकृति न दे और उन्हें तबतक दौड़ा-दौड़ी करने दे जबतक कि वे स्वयं थककर रुक न जायं—यह वह तरीका है जिसकी विवेकानन्दने अपने राजयोगमें सिफारिश की है। दूसरा तरीका यह है कि इन विचारोंको

इस तरह देखना कि ये अपने नहीं हैं और साक्षी पुरुषके तौरपर इनसे अलग हो जाना और अपनी अनुमति देनेसे इन्कार करना—इस तरीकेमें विचारोंको ऐसा माना जाता है जैसे ये चीजें बाहरसे, प्रकृतिमेंसे आ रही हों। और इनके बारेमें ऐसा अनुभव करना होता है जैसे ये कोई राहगीर हों और मनके क्षेत्रसे होकर चले जा रहे हों जिनसे अपना न तो कोई संबंध है न दिलचस्पी। इस तरीकेमें प्रायः ऐसा होता है कि कुछ कालके बाद मनके दो भाग हो जाते हैं, एक भाग वह जो पुरुष भाग है, यह मनोमय साक्षी (द्रष्टा) बनकर देखता रहता है और पूर्णतया अक्षुब्ध और अचंचल रहता है; दूसरा भाग वह जो प्रकृति भाग है, यह देखनेका विषय (दृश्य) बनता है और इसीमें ये विचार घूमते या चक्कर लगाते हैं। बादमें साधक इस प्रकृति भागको भी निश्चल-नीरव और स्थिर करना आरंभ कर सकता है। तीसरा एक और तरीका है, यह सक्रिय है। इसमें साधक अंदर दृष्टि डालकर यह खोजता है कि ये विचार कहांसे आते हैं और उसको यह पता

लगता है कि ये उसके अपने अंदरसे नहीं आते बल्कि मस्तकके बाहर कहींसे आते हैं; और यदि कोई इन्हें आते हुए पहचान सके तो इनके अंदर घुसनेके पहले ही इन्हें पूर्ण रूपसे दूर कर देना होता है। संभवतः यह अत्यन्त कठिन तरीका है और सब लोग इसका अवलंबन नहीं कर सकते। परन्तु यदि यह किया जा सके तो निश्चल-नीरवता पानेके लिये यही सबसे सीधा और अत्यन्त समर्थ मार्ग है।

*

* *

इस बातकी आवश्यकता है कि तुममें जो अशुद्ध प्रवृत्तियां होती हैं उनको तुम देखो और उन्हें जान लो; कारण ये ही तुम्हारे दुःखके मूल हैं और तुम्हें यदि इनसे मुक्त होना है तो इन अशुद्ध प्रवृत्तियोंका तुम्हें लगातार त्याग करते रहना होगा।

किन्तु सदा तुम अपनी त्रुटियों और अशुद्ध प्रवृत्तियोंका ही चिन्तन मत किया करो। भविष्यमें तुम्हें जो बनना है उसपर और तुम्हारा जो आदर्श

है उसपर तुम अधिक ध्यान दो और यह श्रद्धा रखो कि जब यही तुम्हारा लक्ष्य है तब यह तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा और प्राप्त होकर ही रहेगा।

दोषों और अशुद्ध प्रवृत्तियोंपर ही सदा दृष्टि रखनेसे चित्त उदास होता है और श्रद्धा शिथिल हो जाती है। अपनी दृष्टिको विद्यमान अंधकारकी अपेक्षा आनेवाले प्रकाशकी ओर अधिक लगाओ। श्रद्धा, प्रफुल्लता और अंतिम विजयमें विश्वास, ये ऐसी बातें हैं जो सहायता करती हैं—इनके कारण प्रगति अधिक सहज और अधिक शीघ्र होती है।

जो अच्छी अनुभूतियां तुम्हारे पास आती हैं उनका अधिक उपयोग करो; इन भूलों और विफलताओंकी अपेक्षा उपरोक्त प्रकारकी एक भी अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण है। और जब यह अनुभूति बंद हो जाती है तो सोचमें मत पड़ो और अपने-आपको अनुत्साहित मत होने दो, किन्तु अंदरसे शान्त रहो और इस बातकी अभीप्सा करो कि जिसमें इस अनुभूतिका एक बलवत्तर रूपमें पुनरावर्त्तन

हो जो एक गभीरतर तथा पूर्णतर अनुभूतिकी प्राप्ति करावे ।

अभीप्सा तो सदा करो, परन्तु अधिक अचंचल होकर, और अपने-आपका सरल भावसे तथा समग्र-भावसे भगवान्‌की ओर उद्घाटन करते हुए ।

*

*   *

अधिकांश मनुष्योंका निम्न प्राण भयंकर दोषों और ऐसी कुवृत्तियोंसे भरा हुआ रहता है जो विरोधी शक्तियोंका प्रत्युत्तर देती हैं । सततरूपसे अन्तरात्माको उद्घाटित रखना, इन प्रभावोंका अनवरत त्याग करना, समग्र विरोधी सुझावोंसे अपने-आपको पृथक् रखना और माताकी शक्तिमेंसे स्थिरता, प्रकाश, शान्ति और पवित्रताको अपने अंदर प्रवाहित होने देना, ये सब इन विरोधी शक्तियोंके घेरेसे आधारको अंतमें मुक्त कर देंगे ।

जिस बातकी आवश्यकता है वह है अचंचल हो जाना, अधिकाधिक अचंचल हो जाना, इन

प्रभावोंको ऐसा देखना कि ये अपने नहीं हैं, कहीं बाहरसे घुस पड़े हैं, अपने-आपको इनसे पृथक् करना और इन्हें अस्वीकार करना तथा भागवत शक्तिपर स्थिर विश्वास बनाये रखना। यदि तुम्हारा हृत्पुरुष भगवान्‌को पानेकी इच्छा करता है और तुम्हारा मन सच्चा है तथा निम्न प्रकृतिसे एवं समस्त विरोधी शक्तियोंसे मुक्त होनेके लिये पुकार मचा रहा है और यदि तुम **माता**की शक्तिका अपने हृदयमें आवाहन कर सकते हो और उसपर अपने निजी सामर्थ्यकी अपेक्षा अधिक भरोसा रखते हो तो अन्तमें यह विरोधी शक्तियोंका घेरा छिन्न-भिन्न हो जायगा और उसके स्थानपर बल और शान्ति आ जमेंगे।

*

* *

निम्न प्रकृति अज्ञानमय और अदिव्य है, यह अपने-आपमें कोई विरोधी शक्ति नहीं, किन्तु **ज्योति** और **सत्य**से वंचित है। ये विरोधी शक्तियां तो

दिव्यत्वविरोधिनी होती हैं न केवल अदिव्य ही; ये निम्न प्रकृतिका उपयोग करती हैं, उसे विकृत कर देती हैं तथा उसे कुटिल प्रवृत्तियोंसे भर देती हैं और इस प्रकार मनुष्यपर अपना प्रभाव जमाती हैं, यहांतक कि उसमें प्रवेश करने और उसे अधिकृत कर लेने अथवा कम-से-कम उसे पूरी तरह अपने वशमें रखनेका यत्न करती हैं।

हर प्रकारके अतिरंजित आत्महीनताके भावसे अपने-आपको मुक्त करो और पाप, कठिनाई अथवा विफलताके भानसे उदास हो जानेकी अपनी आदतको छोड़ दो। इन विचारोंसे कोई लाभ नहीं होता, बल्कि ये भयानक विघ्न हैं और प्रगतिमें बाधा डालते हैं। ये बातें धार्मिक मनोवृत्तिकी हैं, यौगिक मनोवृत्तिसे इनका कुछ संबंध नहीं। योगीको चाहिये कि वह प्रकृतिके इन समस्त दोषोंको निम्न प्रकृतिकी प्रवृत्तियां समझे जो सभीको समान रूपसे सताती हैं, और भागवत शक्तिमें पूर्ण विश्वास रखते हुए स्थिरता, दृढ़ता और निरंतरतापूर्वक इनका

त्याग करे--पर दुर्बलता या उदासी अथवा बेपरवाहीके साथ नहीं और उत्तेजना या अधीरता अथवा उग्रताके साथ भी नहीं ।

*
*   *

योगसाधनका नियम यह है कि उदासी छा जानेपर भी तुम निरुत्साहित न होओ, इससे अपने-आपको जुदा रखो, इसके कारणका पता लगाओ और उस कारणको दूर करो ; क्योंकि यह कारण सदा साधकके अपने अंदर ही होता है, संभवतः प्राणमें कहींपर कोई दोष होता है, किसी अशुद्ध प्रवृत्तिको घुसने दिया गया होता है अथवा कोई तुच्छ वासना कभी तृप्त कर दी जानेके कारण या कभी अतृप्त रह जानेके कारण प्रतिक्रिया उत्पन्न करती होती है । योग-साधनमें प्रायः किसी वासनाको तृप्त कर देना अथवा किसी मिथ्या प्रवृत्तिको घुस आने देना जितनी बड़ी प्रतिक्रियाको उत्पन्न करता है उतना किसी वासनाको अतृप्त रखना नहीं करता ।

तुम्हारे लिये जो बात आवश्यक है वह यह कि तुम अंदरकी गहराईमें अधिक निवास करो, और बाह्य मन और प्राण जो इन बाह्य संस्पर्शोंके लिये खुले हुए हैं, उनमें कम रहो। आन्तरतम हृत्पुरुषपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसका जो भगवान्‌से सहज सामीप्य है उसमें वह प्रतिष्ठित रहता है और इन ऊपरी तलकी मामूली गतियोंको बिलकुल ऊपरी चीज समझता है जो कि उसकी अपनी सत्यसत्ताके लिये विजातीय हैं।

*

*   *

जिन कठिनाइयों और अशुद्ध वृत्तियोंका तुमपर आक्रमण होता है उनसे बरतनेमें संभवतः तुम यह भूल करते हो कि तुम अपने-आपको उनके साथ बहुत अधिक तदाकार कर देते हो और उन्हें अपनी प्रकृतिका अंश समझने लग जाते हो। तुमको तो इनसे अलग होना चाहिये, अपने-आपको इनसे विलग और असंबंधित कर लेना चाहिये, यह समझना

चाहिये कि ये विश्वकी असिद्ध और अशुद्ध निम्न प्रकृतिकी गतियां हैं, ये वे शक्तियां हैं जो तुममें प्रवेश करके इस बातकी चेष्टा करती हैं कि वे तुमको अपनी अभिव्यक्तिके लिये अपना एक यंत्र बना लें। अपने-आपको इस प्रकार इनसे विलग और असंबंधित कर लेनेसे तुम्हारे लिये यह अधिक संभव हो जायगा कि तुम अपने अंदरके दिव्य भागका पता लगा लो और अधिकाधिक उसीमें रहने लगो, यह अंदरका भाग ही तुम्हारा अन्तरात्मा अथवा हृत्पुरुष है जो इन बाह्य गतियोंसे आक्रान्त अथवा पीड़ित नहीं होता, इनको अपने-आपसे बिलकुल विजातीय पाता है, अतः स्वभावतः ही इन्हें अनुमति देनेसे इनकार करता है और अपने-आपको निरन्तर भागवत शक्तियों तथा चेतनाके उच्चतर स्तरोंकी ओर अभिमुख हुआ हुआ या उनसे संबंधित अनुभव करता है। अपनी सत्ताके इस भागको ढूँढ़ निकालो और उसीमें रहो; ऐसा करनेमें समर्थ हो जाना योगकी सच्ची नींव डाल लेना है।

इस प्रकार अपने-आपको अलग कर लेनेसे तुम्हारे लिये यह भी अधिक सहज हो जायगा कि तुम ऊपरी तलके संघर्षके पीछे जाकर अपने-आपमें ही एक शान्त समावस्थाको प्राप्त कर लो जहांपर स्थिर होकर तुम अपनेको मुक्त करनेके लिये भगवत्-साहाय्यका अधिक सफल रूपसे आवाहन कर सकोगे। भगवत्-उपस्थिति, स्थिरता, शान्ति, शुद्धि, शक्ति, प्रकाश, आनन्द, विस्तीर्णता आदि ऊपर तुममें अवतरण करनेकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ऊपरी तलके पीछे रहनेवाली इस अचंचलताको तुम प्राप्त कर लो तो तुम्हारा मन भी अधिक अचंचल हो जायगा, फिर इस अचंचल मनके द्वारा तुम पहले शुद्धि और शान्तिका और बादमें **भगवत्-शक्तिका** अपनेमें आवाहन कर सकोगे। यदि तुम इस शान्ति और शुद्धिको अपनेमें अवतरित होते हुए अनुभव कर सको, तब तुम इनका बारंबार अपनेमें आवाहन कर सकते हो, जबतक कि ये वहां स्थायी रूपसे टिकना आरंभ न कर दें; तुम तब यह भी अनुभव करोगे कि वह शक्ति तुममें इन प्रवृत्तियोंको परिवर्त्तित करनेके लिये

तथा तुम्हारी चेतनाका रूपान्तर करनेके लिये कार्य कर रही है। उसके इस कार्यमें तुम्हें **माताकी** उपस्थिति और शक्तिका ज्ञान होगा। एक बार जहां यह हो गया तब बाकीका सब कुछ केवल समयका और तुम्हारे अंदर तुम्हारी सत्य एवं दिव्य प्रकृतिके उत्तरोत्तर विकास होनेका ही प्रश्न रह जायगा।

*

* *

अपूर्णताओंका होना यहांतक कि बहुतसी और गुरुतर अपूर्णताओंका होना भी योगकी प्रगतिमें स्थायी रूपसे बाधक नहीं हो सकता। (पहले एक बार हो चुके उद्घाटनके फिरसे होनेके बारमें मैं नहीं कहता हूं, कारण, मेरे अनुभवके अनुसार तो, रुकावट अथवा संघर्षका समय बीत जानेके बाद जो उद्घाटन होता है वह प्राय: पहलेसे नवीन और अधिक विस्तृत होता है, चेतना अधिक विशाल हो जाती है और पहले जो कुछ प्राप्त किया गया था पर जो कुछ समयके लिये अब नष्ट हो गया दिखायी देता

है—केवल दिखायी ही देता है—साधक उसके भी आगे और अधिक उन्नति प्राप्त करता है।) एकमात्र वस्तु जो स्थायी रूपसे बाधक हो सकती है—परन्तु उसका भी बाधक होना आवश्यक नहीं होना चाहिये, कारण उसे भी बदला जा सकता है—वह है मिथ्याचार, सचाईका अभाव। किन्तु तुममें तो यह है ही नहीं। यदि अपूर्णता बाधक होती तब तो कोई भी मनुष्य योगमें सफल न हो सकता; कारण सभी तो अपूर्ण हैं और मैंने जो कुछ देखा है उससे तो यही ज्ञात होता है कि जिनमें योगकी बड़ी-से-बड़ी शक्ति है उनमें, प्रायः अधिकांशमें, बड़ी-से-बड़ी अपूर्णताएं भी हैं, या किसी समय रहीं हैं। अपने ही चरित्रपर सुकरात (Socrates) ने जो टिप्पणी की है उसको शायद तुम जानते हो; यही बात बहुतसे महान् योगी अपनी आरंभिक मानवी प्रकृतिके बारेमें कह सकेंगे। (योगमें जो बात अंतमें सबसे अधिक कामकी साबित होती है वह है सचाई, और उसके साथ-ही-साथ इस पथपर डटे रहनेके लिये धैर्य—बहुतसे इस धैर्यके बिना भी पार हो जाते हैं,

कारण उनमें विद्रोह, अधैर्य, निरुत्साह, निराशा, थकावट, श्रद्धाका तात्कालिक ह्रास, इन सबके होते हुए भी उनमें जो एक अपनी बाह्य सत्ताकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् आंतर शक्ति है, आत्माकी शक्ति है, आध्यात्मिक भूखका जो एक प्रबल वेग है वह उन्हें आगे-आगे धकेलता जाता है और बादलों और कुहरेसे पार कर उनका जो सामने लक्ष्य है वहां पहुँचा देता है। अपूर्णताओंके कारण यह तो हो सकता है कि साधक ठोकरें खाय और क्षणभरके लिये बुरी तरह गिर भी पड़े, पर ये साधकके मार्गमें स्थायी बाधा नहीं बन सकतीं। इनकी अपेक्षा तो वे रुकावटें जो कि प्रकृतिमें कहीं प्रतिरोध रहनेके कारण पैदा होती हैं, साधनामें विलंब डालनेका अधिक गंभीर कारण बन सकती हैं, पर वे भी सदा टिकी नहीं रहतीं।

तुममें जो इतनी देरतक उदासी रहती है, वह भी इस बातका कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि तुम्हारा अपनी योग्यता अथवा आध्यात्मिक भवितव्यतापरसे

विश्वास उठ जाय। मेरा विश्वास है कि साधनामें अंधकारमय और प्रकाशमय कालका बारी-बारीसे आना-जाना, यह अनुभव तो संसारभरके प्रायः सभी योगियोंको होता है और इसका अपवाद बहुत कम मिलता है। यदि इसके कारणकी खोज की जाय—जो हमारी अधीर मानव-प्रकृतिके लिये अत्यन्त अप्रिय है—तो मेरी समझमें ये प्रधानतया दो हैं। पहला कारण यह कि मानव-चैतन्य या तो **ज्योति** अथवा **शक्ति** अथवा **आनन्द**के सतत अवतरणको सहन नहीं कर सकता या उसको तुरत ग्रहण करके पचा नहीं सकता; इसे पचाकर सात्म्य कर लेनेके लिये हर बार कुछ समयकी आवश्यकता होती है। किन्तु सात्म्य करनेकी यह प्रक्रिया ऊपरी तलकी चेतनाके परदेके पीछे होती रहती है; जिस अनुभूति अथवा उपलब्धिका अवतरण हुआ है, वह आकर इस परदेके पीछे चली जाती है और इस बाह्य तथा ऊपरी तलकी चेतनाको अपनी खेतीके लिये तैयार की गयी भूमिके तौरपर छोड़ जाती है जिससे कि यहां नवीन अवतरण संभव हो सके। योगकी अधिक

उन्नत अवस्थामें इस अंधकार अथवा उदासीके कालकी अवधि घट जाती है, कम कष्टदायक हो जाती है और इसके साथ-ही-साथ एक ऐसी विशालतर चेतनाका भान भी उस समय साधकको ऊपर उठाये रखता है जो चेतना यद्यपि साधककी तात्कालिक प्रगतिमें कोई क्रियात्मक भाग नहीं लेती तो भी उसकी बाह्य प्रकृतिमें विद्यमान रहती और उसको धारण किये रहती है। दूसरा कारण है किसी प्रतिरोधका होना, मानव-प्रकृतिमें किसी ऐसी चीजका होना जिसने पहले जो अवतरण हुआ था उसको अनुभव नहीं किया है, जो अभी तैयार नहीं है, जो संभवतः अपनेको परिवर्त्तित होने देना नहीं चाहती--प्रायः यह मन या प्राणकी कोई बलवान अभ्यस्त बनावट होती है अथवा कोई भौतिक चेतनाकी अस्थायी जड़ता न कि अपनी प्रकृतिका कोई वास्तविक अंश—और यही चीज है जो प्रकट रूपसे या छिपे तौरपर बाधाको ला उपस्थित करती है। इसके कारणको यदि कोई अपने-आपमें ही ढूंढ़ सके, इसके अस्तित्वको स्वीकार कर सके,

इसकी कार्रवाईको देख सके और इसे हटानेके लिये ऊपरसे शक्तिका अपनेमें आवाहन कर सके तो इस बाधा-कालकी अवधि बहुत ही अल्पस्थायी की जा सकती है और उसकी तीव्रता भी बहुत कम हो जाती है। किन्तु जो भी हो, **भगवत्-शक्ति** तो सदा ही पीछेसे अपना काम करती रहती है और एक दिन आता है—जिस दिन साधकको इसकी बहुत ही कम आशा रहती है—कि ये सब बाधाएं छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, अंधकारके बादल उड़ जाते हैं और वहां पुनः प्रकाश और सूर्य-ज्योति छा जाती है। यदि कोई कर सके, तो ऐसी अवस्थाओंमें सबसे उत्तम बात यह है कि न तो व्याकुल हो न हताश, बल्कि शान्तिपूर्वक लगा रहे, अपने-आपको उद्घाटित किये रहे, दिव्य ज्योतिको पानेके लिये अपने-आपको फैलाये रखे और इस श्रद्धाके साथ सदा प्रतीक्षा करता रहे कि वह अवश्य आवेगी; ऐसा करनेसे इन अग्नि-परीक्षाओंका काल घट जाता है, यह मैंने देखा है। इसके बाद जब ये कठिनाइयां समाप्त हो चुकती हैं तब साधकको पता लगता है कि इस बीचमें एक महान्

उन्नति हो चुकी है और चेतना, ग्रहण करने तथा गृहीत वस्तुको धारण करनेमें पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक योग्य हो गयी है। अध्यात्म-जीवनमें जो कुछ भी कठिनाइयां और परीक्षाएं आती हैं उन सबका प्रतिफल भी साधकको मिलता ही है।

*

* *

यद्यपि भागवत शक्तिको पहचानना और उसके साथ अपनी प्रकृतिको एकस्वर कर लेना, यह काम उस प्रकृतिमें जो अपूर्णताएं हैं उनको पहचाननेके बिना नहीं किया जा सकता, तथापि उन अपूर्णताओं-पर अथवा वे जो कठिनाइयां उत्पन्न करती हैं उनपर अत्यधिक ध्यान देना, अथवा चूंकि कठिनाइयां अनुभव होती हैं इस कारण भागवत क्रियापर अविश्वास करना या वस्तुओंके कृष्णपार्श्वपर ही लगातार जोर दिये जाना अनुचित है। ऐसा करनेसे तो इन कठिनाइयोंकी ताकत बढ़ती है और इन

अपूर्णताओंको लगातार बने रहनेके लिये एक बृहत्तर अधिकार प्राप्त हो जाता है। डा० कूए (coueistic) के आशावादके लिये मैं कोई आग्रह नहीं करता— द्यपि अत्यधिक आशावाद अत्यधिक निराशावादकी अपेक्षा साधकको अधिक सहायक होता है; कूएका ाति आशावाद (कूएवाद) तो कठिनाइयोंको ढक ेनेकी प्रवृत्ति रखता है, उन्हें दूर नहीं करता; इसके ातिरिक्त हर बातमें सदा उसकी एक उचित मात्रा ी देखी जानी चाहिये। परन्तु तुम्हारे विषयमें सा कोई खतरा नहीं है कि तुम इन अपूर्णताओंको ककर रख सकोगे अथवा अत्यधिक आशामय चित्र बनाकर उनके द्वारा आत्म-प्रतारणा कर सकोगे, म तो, ठीक इसके विपरीत, अंधकारमय छायापर ी अधिक ध्यान देते हो और ऐसा करनेके कारण स अंधकारको और भी प्रगाढ़ बना देते हो तथा काशमें प्रवेश करनेके अपने मार्गोंको रोक देते हो। द्धा, और अधिक श्रद्धा! अपनी संभावनाओंमें द्धा, परदेके पीछे जो शक्ति कार्य कर रही है उसमें द्धा, जो कार्य किया जानेवाला है उसपर तथा

तुम्हारा जो पथ-प्रदर्शन किया जा रहा है उसपर श्रद्धा—इस श्रद्धाको बनाये रखो।

उच्चकोटिका ऐसा कोई भी प्रयास नहीं हो सकता, और आध्यात्मिक क्षेत्रमें तो यह असंभव-सा ही है, जिसमें बारंबार आनेवाली घोर बाधाएं न उठती हों अथवा उनसे मुठभेड़ न होती हो। ये बाधाएं दो प्रकारकी होती हैं, आंतरिक और बाह्य; और यद्यपि सामान्यतया ये बाधाएं सभी मनुष्योंके लिये मूलरूपमें एक ही प्रकारकी होती हैं, परन्तु किस व्यक्तिपर इनका कितना प्रभाव पड़ता है, और ऐसा करनेमें ये कैसा बाह्य रूप धारण करती हैं, इसमें ये व्यक्ति-व्यक्तिके लिये बहुत भिन्न हो सकती हैं। परन्तु जो एक वास्तविक कठिनाई है वह है भागवत ज्योति और भागवत शक्तिकी क्रियाके साथ अपनी प्रकृतिको एक-स्वर कर लेना; बस, इसे हल कर लो तो बाकी सब कठिनाइयां या तो लुप्त हो जायंगी या एक गौण रूप धारण कर लेंगी, और वे कठिनाइयां भी जो अधिक आम तरीकेकी हैं और जो रूपान्तरके कार्यमें

स्वभावतः अन्तर्निहित होनेके कारण अधिक स्थायी हैं, वे भी विशेष असह्य नहीं मालूम होंगी, क्योंकि तुम्हें सहारा देनेवाली दिव्य शक्तिका भान तुमको रहेगा और इस शक्तिकी क्रियाका अनुसरण करनेके लिये अधिक सामर्थ्य भी तुममें होगा।

*

* *

प्राप्त हुई अनुभूतियोंका सर्वथा विस्मरण हो जाता है, इसका केवल यही अर्थ है कि वह आन्तरिक चेतना, जहां एक प्रकारकी समाधि-अवस्थामें ये अनुभूतियां होती हैं और बाह्य जाग्रत चेतना, इन दोनोंके बीचमें अभीतक पर्याप्त संबंध स्थापित नहीं हुआ है—इन दोनोंको मिलानेवाला पुल तैयार नहीं हुआ है। जब उच्चत्तर चेतना इन दोनोंके बीचमें पुल तैयार कर देती है तब यह होता है कि बाह्य चेतना भी इन्हें स्मरण रखने लगती है।

*

* *

साधनाके सामर्थ्य और अभीप्साके बलमें यह उतार-चढ़ाव अनिवार्य है; सभी साधकोंको ऐसा होता है जबतक कि संपूर्ण आधार रूपान्तरके लिये तैयार नहीं कर लिया जाता। जब हृत्पुरुष सामने आ जाता है अथवा सक्रिय होता है तथा मन और प्राण स्वीकृति दे देते हैं तब साधना तीव्र होती है। जबतक हृत्पुरुषका प्रभुत्व पूर्ण रूपसे स्थापित नहीं हुआ है और निम्नप्राण अपनी साधारण चेष्टाएं करता रहता है अथवा मन अपने अज्ञानमय प्रपंच जारी रखता है, तबतक साधक यदि अत्यंत चौकन्ना नहीं है तो विरोधी शक्तियां अंदर घुस जा सकती हैं। जड़ता (तमस्) प्रायः साधारण भौतिक चेतनासे आती है, विशेषतः तब जब कि प्राण क्रियात्मक रूपसे साधनाको सहारा नहीं दे रहा होता। आधारके समस्त भागोंमें उच्चतर आध्यात्मिक चेतनाको लगातार उतारते रहनेसे ही ये चीजें ठीक की जा सकती हैं।

*

* *

चेतनाका कभी कुछ समयके लिये नीचे उतर जाना यह तो सभी साधकोंको होता है। इसके कारण विविध होते हैं, जैसे कोई बाह्य स्पर्श, प्राणमें, विशेषतया निम्नप्राणमें किसी ऐसी वस्तुका होना जो अभीतक परिवर्त्तित नहीं हुई या पर्याप्त रूपमें परिवर्त्तित नहीं हुई है, प्रकृतिके भौतिक अंशोंमेंसे उठी हुई कोई जड़ता अथवा अंधकारावस्था। जब ऐसा हो उस समय शान्त रहो, अपने-आपको **माता**की ओर उद्घाटित करो और अपनी सत्य स्थितिको फिरसे पा लेनेकी पुकार करो और एक ऐसे स्पष्ट और अक्षुब्ध विवेककी अभीप्सा करो जो तुम्हें तुम्हारे अंदर जिस वस्तुके ठीक करनेकी आवश्यकता हुई है उसके कारणको दिखा दे।

*

* *

साधना करते हुए दो गतियोंके बीचमें, अपनी तैयारी करनेके लिये तथा जो कुछ प्राप्त हुआ है उसे हजम कर लेनेके लिये, विरामकाल सदा ही आया करते हैं। इन्हें साधनाके मार्गमें आनेवाली अवांछित

खाइयां नहीं समझना चाहिये और इनके कारण खीजना और अधीर होना नहीं चाहिये। इसके अतिरिक्त **शक्ति** प्रकृतिके किसी अंशको साथ लेकर उच्चतर भूमिकाओंमें आरोहण करती है और इसके बाद निम्नतर स्तरको ऊपर उठानेके लिये फिर वहां नीचे अवरोहण करती है; आरोहण और अवरोहणकी यह गति बहुधा अत्यंत कष्टप्रद होती है, कारण मन जो सीधी रेखामें ऊपर जानेका पक्षपाती होता है और प्राण जो शीघ्र फलप्राप्तिके लिये उत्सुक रहता है, वे इस पेचीदी गतिको न तो समझ ही सकते हैं, न इसका अनुगमन ही कर सकते हैं और इस कारण उनका इससे तंग आ जाना या इसे नापसंद करना स्वाभाविक है। किन्तु संपूर्ण प्रकृतिका रूपांतर कर डालना कोई सहज बात नहीं है और जो शक्ति इसको कर रही है वह हम लोगोंके मानसिक अज्ञान अथवा प्राणगत उत्सुकताकी अपेक्षा इस कामको कहीं अधिक अच्छी तरहसे जानती है।

*

*   *

यह तो योगसाधनकी एक बहुत गंभीर कठिनाई है—प्रधान संकल्पका अभाव होना, उस प्रधान संकल्पका जो सदैव प्रकृति-शक्तिकी लहरोंसे ऊपर रहता है, जो सदा **माता**के संस्पर्शमें है, जो अपने लक्ष्य और अपनी अभीप्साको अंगीकार करनेके लिये प्रकृतिको विवश करता है। यह इसलिये है कि तुमने अभीतक अपनी प्रधान सत्तामें निवास करना नहीं सीखा है; तुम तो इस बातके अभ्यासी रहे हो कि शक्तिकी—वह चाहे किसी प्रकारकी क्यों न हो—जो कोई भी लहर तुमपर चढ़ आवे तुम उसीमें बहने लगो और उस समयके लिये अपनेको उसके साथ तदाकार कर दो। परन्तु यह अभ्यास उन चीजोंमेंसे एक चीज है जिन्हें साधकको जीसे भुला देना होता है। तुमको अपनी प्रधान सत्ताका पता लगा लेना होगा, जिसका आधार हृत्पुरुष है, और उसीमें निवास करना होगा।

*

*   *

यह युद्ध चाहे जितना भी कठिन क्यों न हो, परन्तु एकमात्र उपाय यही है कि तुम इसमें अभी और यहीं जूझ पड़ो और इसे समाप्त करके छोड़ो।

कठिनाई यह है कि तुमने अपनी वास्तविक बाधाका कभी भी पूरी तरहसे सामना नहीं किया और उसपर विजय नहीं प्राप्त की। तुम्हारी प्रकृतिके एक मुख्य भागमें अहं-भावमय व्यक्तित्वने एक ऐसी प्रबल रचना बना ली है जिससे तुम्हारी आध्यात्मिक अभीप्साके अंदर अभिमान और आध्यात्मिक महत्वा-कांक्षाके अड़ियल तत्त्व आकर मिश्रित हो गये हैं। अहंभावकी इस रचनाने इस बातकी कभी स्वीकृति नहीं दी है कि इसको तोड़ दिया जाय जिससे कि इसका स्थान कोई अधिक सत्य और अधिक दिव्य वस्तु ग्रहण कर ले। इसलिये जब-जब **माताने** अपनी शक्ति तुमपर डाली है अथवा जब-जब तुमने स्वयं ही उस शक्तिको अपने ऊपर उतारा है, तब-तब सदा तुम्हारे अंदरकी इसी वस्तुने उस शक्तिको उसके अपने निजी तरीकेसे तुममें काम करने देनेमें रुकावट

डाली है । इसने स्वयमेव मनके किसी विचारके अनुसार अथवा अहंकारकी किसी मांगके अनुसार, अपना ही निर्माण-कार्य जारी रखा है और "अपने ही तरीकेसे" अपनी निजी शक्तिद्वारा अपनी निजी साधना, अपनी निजी तपस्याके द्वारा अपनी ही सृष्टि बनानेका यत्न किया है। तुम्हारे इस भागने कभी भी अपना वास्तविक समर्पण किया ही नहीं, कभी भी तुमने अपने-आपको पूरी तरहसे और सहज भावसे भगवती माताके वरद हस्तोंमें सौंपा ही नहीं, यद्यपि विज्ञानमय योगमें सफलता लाभ करनेका यही एकमात्र तरीका है। योगी, संन्यासी या तपस्वी बनना यहांका ध्येय नहीं है। यहांका ध्येय है रूपान्तर, और यह रूपान्तर उसी शक्तिके द्वारा हो सकता है जो तुम्हारी अपनी शक्तिसे अनन्तगुण महान् है, यह तभी संभव है जब तुम भगवती माताके हाथोंमें सचमुच एक बालककी भांति बनकर रहो।

*

* *

इसका कोई कारण नहीं दीखता कि योगमें सफलता प्राप्त करनेकी आशाको तुम क्यों छोड़ दो । जिस उदासीकी अवस्थाका तुम इस समय अनुभव कर रहे हो वह अस्थायी है और वह तो दृढ़-से-दृढ़ साधकपर भी किसी-न-किसी समय आती है, बल्कि बहुधा बार-बार आती है । इसके लिये एकमात्र आवश्यक वस्तु यह है कि आधारका जो भाग जागरित हो चुका है उसको मजबूतीसे पकड़कर रखना, समस्त उलटे विचारोंका त्याग करना और जहांतक संभव हो वहांतक अपने-आपको भगवान्‌की सत्य-शक्तिके प्रति उद्घाटित रखते हुए उस समयतक प्रतीक्षा करना जबतक कि यह संकट अथवा परिवर्त्तन-काल, जिसकी यह उदासी भी एक अवस्था है, समाप्त न हो जाय । जो विचार तुम्हारे मनमें यह कहते हुए आते हैं कि तुम इस योगके योग्य नहीं हो और तुम्हें साधारण जीवनकी ओर लौट जाना चाहिये, ये विरोधी शक्तियोंद्वारा प्रस्तुत की गयी उकसावट हैं । इस प्रकारके विचारोंको निम्नप्रकृति की गढंत समझ-कर सदा त्याग करते जाना चाहिये ; चाहे ये विचार

किन्हीं ऐसी दृश्यमान बातोंपर आधार रखते प्रतीत होते हों जो हमारे अज्ञानी मनको कायल कर देनेवाली हों तो भी ये मिथ्या ही होते हैं, कारण ये एक तात्कालिक गतिको ही अतिरंजित कर देते हैं और उसे एक निश्चयात्मक और अंतिम सत्यके रूपमें प्रदर्शित करते हैं। तुममें एक ही ऐसा सत्य है जिसे तुम्हें निरंतर पकड़े रखना है, और वह है तुम्हारे दिव्यीकरणकी संभावनाओंका तथा तुम्हारी प्रकृतिमें जो उच्चतर ज्योतिकी पुकार है उसका सत्य। यदि तुम इस सत्यको सदा पकड़े रहोगे, अथवा, यदि कभी क्षणभरके लिये टिल भी जाओ तो भी बार-बार इसे ही पकड़ लिया करोगे, तो इन सब कठिनाइयों, बाधाओं और ठोकरोंके होते हुए भी अंतमें वह सत्य सच्चा सिद्ध होगा। तुम्हारी आध्यात्मिक प्रकृति जैसे-जैसे विकसित होती जायगी वैसे-वैसे एक समय आवेगा कि जो कुछ भी तुम्हारे आध्यात्मिक विकासका प्रतिरोध करता है, उसका लोप हो जायगा।

जिस बातकी आवश्यकता है वह यह है कि तुम्हारा प्राणभाग बदल जाय और समर्पण करे।

इस भागको यह अवश्य सीख लेना है कि वह केवल उच्चतम सत्यकी ही पुकार करे और अपने निम्न आवेशों और वासनाओंकी तुष्टिके लिये आग्रह करना छोड़ दे। प्राण सत्ताकी यह लगन ही वह चीज है जो आध्यात्मिक जीवनमें समग्र प्रकृतिके आनंद और पूर्ण संतोषको प्राप्त कराती है। जब यह हो जायगा तब साधारण जीवनकी ओर लौट जानेका विचारतक करना भी असंभव हो जायगा। परन्तु जबतक यह नहीं प्राप्त हुआ है तबतक तुमको मानसिक संकल्प और अन्तरात्माकी अभीप्सा, इनके सहारे रहना चाहिये; यदि तुम आग्रह करते रहोगे तो अंतमें प्राण हार मान जायगा और वह बदल जायगा और समर्पण करेगा।

भागवत सत्यके लिये और केवल उसीके लिये जीना है, इस निश्चयको अपने मन और हृदयपर दृढ़ कर लो। जो कुछ भी इस निश्चयके विपरीत है अथवा जो इससे मेल नहीं खाता उस सबको त्याग दो और निम्नतर वासनाओंसे मुंह मोड़ लो। भागवत

शक्तिकी ओर—अन्य किसीकी ओर नहीं—अपने-आपको उद्घाटित करनेकी अभीप्सा करो। बस, इन सबको पूर्ण सचाईके साथ करो तो फिर जिस प्रत्यक्ष और जीती-जागती सहायताकी तुमको आवश्यकता है, वह तुम्हें बिना मिले रहेगी ही नहीं।

*

* *

जो भाव तुमने धारण किया है, वह ठीक है। यही भाव और यही वृत्ति है जो तुमको उन आक्रमणोंपर इतना शीघ्र विजय प्राप्त करनेमें सहायक होती हैं जो तुमपर कभी-कभी होते हैं और तुम्हें अपनी उचित चेतनासे बाहर कर देते हैं। जैसा कि तुम कहते हो, कठिनाइयोंको तो यदि इस प्रकार ठीक भावमें लिया जाय तो वे सुअवसर बन जाती हैं; जब किसी कठिनाईका उचित भावमें रहकर सामना किया जाता है और उसे जीत लिया जाता है तब साधकको पता लगता है कि उसकी एक बाधा दूर हो गयी

और वह एक पग आगे बढ़ गया है । कुछ भी ननुनच करनेसे, सत्ताके किसी भागमें प्रतिरोध रहनेसे उलटे कष्ट और कठिनाइयां बढ़ती हैं—यही कारण है कि प्राचीन योग-पद्धतियोंमें गुरुके आदेशोंको बिना ननुनचके मान लेना तथा उनके पालन करनेमें किसी तरहकी चूक न करना, यह अनिवार्य शर्त रखी गयी थी । यह मांग कुछ गुरुके लाभके लिये नहीं की गयी थी, किन्तु शिष्यके हितके लिये थी ।

*

*   *

चीजोंको देखना यह एक बात है पर उनको अपनेमें प्रवेश करने देना यह बिलकुल दूसरी बात है । साधकको बहुतसी चीजोंका अनुभव प्राप्त करना है, उन्हें देखना और उनका निरीक्षण करना है, उनको चेतनाके क्षेत्रमें लाना और यह जानना है कि वे क्या हैं । परन्तु इसका कोई कारण नहीं है कि तुम उन्हें अपने-आपमें प्रवेश करने दो और अपने ऊपर अधिकार जमाने दो । केवल भगवान्को ही

अथवा जो कुछ उनके यहांसे आता हो उसे ही तुम अपने-आपमें प्रवेश करने दे सकते हो।

यह कहना कि सभी प्रकाश अच्छा है, वह यह कहनेके बराबर है कि सभी जल अच्छा है—अथवा सभी निर्मल और स्वच्छ जल अच्छा है; परन्तु यह बात ठीक नहीं ठहरेगी। इसके पहले कि कोई यह कह सके कि यही सत्य प्रकाश है, उसको यह देखना होगा कि यह प्रकाश किस प्रकारका है अथवा यह कहांसे आ रहा है या इसके अंदर क्या है। मिथ्या प्रकाश होते हैं और झटका देनेवाली चमक भी, तथा सत्ताके हीनतर स्थानोंसे संबंध रखनेवाले निम्न-कोटिके प्रकाश भी हैं। इसलिये साधकको पूरी सावधानी रखनी चाहिये, और उपरोक्त भेदको समझना चाहिये, ऐसा सच्चा विवेक अन्तरात्माकी अनुभव-शक्तिके विकसित होनेसे तथा पवित्र हुए हुए मनसे और अनुभवसे प्राप्त होगा।

*

*   *

जो चीख तुमने सुनी थी वह भौतिक हृदयमें नहीं बल्कि हृदयके अंदर जो भावावेगका केन्द्र है वहां हुई थी। दीवार टूटनेका मतलब यह था कि तुम्हारी बाधाओंका नाश हो गया अथवा कम-से-कम तुम्हारी आन्तरिक और बाह्य सत्ताके बीचकी कुछ बाधाओंका नाश हो गया। अधिकांश मनुष्य अपने साधारण बाहरी अज्ञानमय व्यक्तित्वमें रहते हैं जो भगवान्‌की ओर सरलतासे उन्मुख नहीं होता; किन्तु उनके अंदर एक और आन्तरिक सत्ता है जिसका उन्हें पता नहीं, जो बहुत आसानीसे **सत्य** और **ज्योति**की ओर उद्घाटित हो सकती है। परन्तु इन दोनोंके बीचमें एक दीवार है, अंधकार और अचेतनाकी दीवार जो इनको उससे अलग किये रहती है। यह दीवार जब टूट जाती है तब एक प्रकारका छुटकारा मिलता है; स्थिरता, आनन्द, प्रसन्नताका जो अनुभव तुम्हें इसके एकदम बाद हुआ वह इसी छुटकारेके कारण था। यह चीख जो तुमने सुनी वह प्राणमय भागकी चीख थी जो इस दीवारके एकाएक टूट जाने तथा एकदम उद्घाटनके हो जानेसे चौंक गया था।

चेतना प्रायः शरीरमें कैद रहती है, और मस्तिष्क, हृदय और नाभिके केन्द्रोंमें अर्थात्—मानसिक केन्द्र, भावावेग केन्द्र और इन्द्रियज्ञानके केन्द्रमें केन्द्रीभूत रहती है; जब तुम इसको या इसके किसी अंशको ऊपर उठते हुए और सिरके ऊपर आकर ठहरते हुए अनुभव करते हो, तब यह समझो कि यह इस कैदमें पड़ी हुई चेतनाका शारीरिक नियमानुबंधनसे मुक्त होना है। यह तुम्हारे अंदरकी मनोमय चेतना है जो ऊपरकी ओर जाती है और वहां साधारण मनकी अपेक्षा किसी उच्चतर वस्तुसे स्पर्श लाभ करती है और वहांसे अपने उच्चतर मनः-संकल्पको बाकीके भागोंपर उनका रूपान्तर करनेके लिये डालती है। कंपन और उष्णता इसलिये अनुभव होते हैं कि कोई प्रतिरोध है, शरीर और प्राण इस उपर्युक्त मांग और इस उपर्युक्त मुक्तिके लिये अभी अभ्यासी नहीं हुए हैं। जब मनोमय चेतना स्थायी रूपसे अथवा संकल्पके करते ही इस प्रकार ऊर्ध्वमें स्थित हो सकेगी तब मुक्तिकी प्रथमावस्था सिद्ध हो जायगी। वहां स्थित होकर यह मनोमय सत्ता, उच्चतर भूमिकाओंके

प्रति अथवा विश्वव्यापी सत्ता और उसकी शक्तियोंके प्रति स्वाधीनतापूर्वक उद्घाटित हो सकती है तथा निम्नतर प्रकृतिपर भी अधिक स्वाधीनता और प्रबलतर शक्तिके साथ कार्य कर सकती है ।

*

* *

भागवत अभिव्यक्ति होनेकी पद्धति स्थिरता और सामंजस्यके द्वारा काम करती है, न कि किसी आफत मचा देनेवाले तूफानके द्वारा । यह भयंकर तूफान तो किसी संघर्षका चिन्ह है, साधारणतया यह परस्पर टकरानेवाली प्राणशक्तियोंके संघर्षका चिह्न होता है, परन्तु यह संघर्ष होता है हीनतर भूमिकामें ही ।

तुम विरोधी शक्तियोंका बहुत अधिक चिन्तन करते हो । इस प्रकारकी पहलेसे बनायी हुई धारणाके कारण तुम्हें बहुतसे अनावश्यक संघर्षमें पड़ना पड़ता है । अपने मनको भावात्मक पक्षपर स्थिर करो । **माताकी** शक्तिकी ओर उद्घाटित होओ, उनका जो संरक्षण है उसपर अपने ध्यानको

केन्द्रित करो; ज्योति, स्थिरता, शान्ति और शुद्धिके लिये एवं दिव्य चेतना और दिव्य ज्ञानमें परिवर्द्धित होनेके लिये आवाहन करो।

परख किये जानेका विचार भी कुछ बढ़िया विचार नहीं है और इसे तुम्हें बहुत दूरतक नहीं खींचना चाहिये। ये परख भगवान् नहीं करते हैं किन्तु ये निम्नतर स्तरोंकी शक्तियों—मनोमय, प्राणमय और भौतिक शक्तियों—द्वारा की जाती हैं, और भगवान् इस परीक्षा-कार्यको इसलिये होने देते हैं कि यह भी अन्तरात्माके शिक्षा ग्रहण करनेका एक अंग है और इससे उसे अपने-आपको, अपनी शक्तियोंको तथा अपनी शक्तियोंकी उन सीमाओंको जिन्हें उसे उल्लंघन कर जाना है, जान लेनेमें सहायता मिलती है। हर घड़ी **माता** तुम्हारी परख नहीं कर रही हैं, बल्कि वे तो हर घड़ी तुम्हें सहायता प्रदान कर रही हैं कि तुम उन परखों और कठिनाइयोंकी आवश्यकतासे ही परे पहुंच जाओ अर्थात् इन सबके ऊपर उठ जाओ,—ये परख और कठिनाइयां हीनतर चेतनासे संबंध रखती

हैं। **माता**की इस सहायतासे सतत सचेतन रहना यह तुम्हारे लिये समस्त आक्रमणोंके मुकाबलेमें एक सर्वोत्तम प्रकारका संरक्षण रहेगा, ये आक्रमण चाहे विरोधी शक्तियोंके हों या तुम्हारी ही निम्नप्रकृतिके।

*

* *

विरोधी शक्तियोंने अपने ऊपर कुछ खुद पसंद किया हुआ काम ले रखा है: वह है व्यक्तिकी, कार्यकी, पार्थिव भूमिकातककी अवस्थाको परखना और ये सब आध्यात्मिक अवतरण और पूर्त्तिके लिये कहांतक तैयार हैं, इसे परखना। यात्रामें पग-पग-पर इन्हें देख लो, ये भयंकरतासे आक्रमण करती हुई, आलोचना करती हुई, विपरीत बातें सुझाती हुई या विद्रोहके लिये उकसाती हुई, अश्रद्धा पैदा करती हुई, कठिनाइयोंका ढेर लगाती हुई विद्यमान हैं। निःसंदेह, इन्हें अपने कार्यद्वारा जो अधिकार प्राप्त हैं उनका ये बहुत अधिक अतिरंजित अर्थ लगाती हैं और इसलिये हमें जो एक राईके बराबर

दिखायी देता है उसमेंसे ये एक पहाड़ खड़ा कर देती हैं। जरासा भी कुछ गलत कदम उठाया अथवा कुछ भूल की कि ये मार्गमें आकर उपस्थित हो जाती हैं और साधकको रास्तेमें अटकानेके लिये वहां एक समूचा हिमालय ही लाकर खड़ा कर देती हैं। परन्तु इन विरोधी शक्तियोंको जो यह विरोध करनेकी अनुमति पुराकालसे दी गयी है, वह केवल इसलिये नहीं है कि इससे हमारी परख और अग्निपरीक्षा की जाय किन्तु यह इसलिये है कि यह हमें अधिक महान् शक्ति, अधिक पूर्ण आत्म-ज्ञान, अधिक शुद्ध और अधिक शक्तिशाली अभीप्सा, ऐसी श्रद्धा जिसे संसारकी कोई वस्तु हिला न सके तथा भगवत्-कृपाका अधिक शक्तिशाली अवतरण करानेकी चेष्टामें लग जानेके लिये बाध्य करे।

*

*   *

शक्तिका अवतरण इस उद्देश्यसे नहीं होता कि निम्नतर शक्तियां ऊपर उठ आवें, किन्तु उसको इस

समय जिस रूपमें कार्य करना है उसे करते हुए उस कार्यकी प्रतिक्रियाके तौरपर यह निम्न शक्तियोंका उत्थान भी हो जाता है । इसलिये जिस बातकी आवश्यकता है वह यह कि समस्त प्रकृतिके मूलमें एक स्थिर और विस्तीर्ण चेतनाकी स्थापना की जाय, जिससे यह हो कि जब यह निम्नप्रकृति सामने आवे तो यह कोई आक्रमण या संघर्षका रूप न धारण करे, बल्कि इस तरह प्रकट हो मानो इन शक्तियोंका स्वामी आया हुआ है जो वर्त्तमान यंत्रके दोषोंको देख रहा है और उसमें जहां कहीं सुधार अथवा परिवर्त्तनकी आवश्यकता है उसे एकके बाद एक करके ठीक कर रहा है।

*

*   *

यह अविद्याकी शक्तियां हैं, जो पहले तो साधक-पर बाहरसे घेरा डालना प्रारंभ करती हैं और फिर उसको परास्त कर देने और उसपर अधिकार जमा लेनेके लिये उसपर ये सबकी सब मिलकर एकबारगी

आक्रमण कर देती हैं। हर बार जब-जब इस प्रकारके आक्रमणको विफल कर दिया जाता है और खदेड़ दिया जाता है तब-तब सत्ताके अंदर एक प्रकारकी निर्मुक्तता अनुभूत होती है, मन, प्राण या शरीरमें अथवा प्रकृतिसे संलग्न भागोंमें **माता**के लिये एक नया क्षेत्र अधिकृत कर लिया जाता है। तुम्हारे प्राणमें **माता**द्वारा अधिकृत क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, यह इस बातसे स्पष्ट प्रकट है कि जिन आक्रमणोंसे पहले तुम बिलकुल परास्त हो जाते थे उनका अब अधिक प्रबल विरोध करते हो।

ऐसे समयोंमें **माता**की उपस्थिति और शक्तिका आवाहन कर सकना, यह कठिनाईका सामना करनेके लिये सबसे उत्तम मार्ग है।

.. तुम्हारी जो यह बातचीत होती है वह **माता**के साथ ही होती है जो सदा ही तुम्हारे साथ हैं और तुम्हारे अंदर हैं। एकमात्र बात यह है कि उनके शब्दोंको तुम ठीक-ठीक सुनो, जिससे दूसरी कोई

वाणी न तो उनकी नकल कर सके और न तुम्हारे और उनके बीचमें आ सके ।

*

*   *

तुम्हारा मन और हृत्पुरुष आध्यात्मिक लक्ष्यपर केन्द्रित है और भगवान्के प्रति उद्घाटित है—इसीसे यह **प्रभाव** केवल तुम्हारे मस्तकमें आता है और हृदयतक पहुंचता है । किन्तु प्राण-सत्ता और प्राण-प्रकृति तथा भौतिक चेतना निम्नप्रकृतिके प्रभावमें हैं । जबतक प्राण और भौतिक सत्ताका समर्पण नहीं हो जाता अथवा जबतक उच्चतर जीवनके लिये इनकी अपनी तरफसे ही पुकार नहीं उठती तबतक संभवतः यह संघर्ष चलता ही रहेगा ।

प्रत्येक वस्तुका समर्पण करो, दूसरी समस्त कामनाओं अथवा स्वार्थोंका त्याग करो, प्राण-प्रकृतिका उन्मीलन करनेके लिये तथा आधारके समस्त केन्द्रोंमें स्थिरता, शान्ति, ज्योति, आनन्दका अवतरण करानेके

लिये भगवत्-शक्तिका आवाहन करो। अभीप्सा करो, परिणामके लिये श्रद्धा और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो। पूर्ण सचाईपर तथा सर्वांगसंपूर्ण उत्सर्ग और अभीप्सापर सब कुछ निर्भर करता है।

जबतक तुम्हारा कोई भी अंग जगत्से संबंध रखता है तबतक जगत् तुम्हें सतावेगा। केवल तभी जब कि तुम पूर्ण रूपसे भगवान्के हो जाओगे, तुम इससे मुक्त हो सकोगे।

*

* *

जिस मनुष्यमें यह हिम्मत नहीं है कि वह जीवनका और उसकी कठिनाइयोंका सामना धीरता और दृढ़तापूर्वक कर सके, वह योगसाधनकी आंतरिक कठिनाइयोंको, जो उनसे भी बड़ी होती हैं, पार करनेमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकेगा। इस योगकी तो यह पहली शिक्षा है कि जीवनका और उसके भयानक कष्टोंका अचंचल मन, सुदृढ़

साहस और भगवत्-शक्तिपर पूर्ण निर्भरताके द्वारा सामना किया जाय।

*
*   *

आत्महत्या कर लेनेसे समस्या हल नहीं होती, यह बिलकुल बेमतलब है; वह सरासर भूल करता है जो यह सोचता है कि इससे उसको शान्ति मिलेगी। इससे तो वह केवल अपनी कठिनाइयोंको मरणोत्तर स्थितिकी अवस्थामें, जो यहांसे भी अधिक बुरी है, अपने साथ ले जायगा, और इन्हें फिर दूसरे जीवनमें पृथ्वीपर संग ले आवेगा। इसका एकमात्र उपाय है इन निराशा भरे अस्वस्थ विचारोंको दूर फेंक दिया जाय और "मैं अमुक निश्चित कार्यको जीवनका लक्ष्य बनाकर करूंगा" इस स्पष्ट संकल्पके साथ तथा शान्त और सक्रिय साहसके साथ जीवनका सामना किया जाय।

*
*   *

साधना शरीरमें रहकर करनी है, अन्तरात्मा इसको बिना शरीरके नहीं कर सकता। जब शरीर-पात होता है तब अन्तरात्मा अन्य लोकोंमें परिभ्रमण करनेके लिये चला जाता है—और अंतमें दूसरे जीवन और दूसरे शरीरको धारण कर फिर वापस आता है। तब वे सबकी सब कठिनाइयां जिनका उसने हल नहीं किया था, इस नवीन जीवनमें फिरसे आ जुटती हैं। तो फिर शरीर परित्याग करनेसे क्या फायदा?

इसके अतिरिक्त अगर कोई जान-बूझकर अपने शरीरको त्यागता है, तो वह अन्य लोकोंमें अत्यधिक कष्ट भोगता है और जब वह पुनर्जन्म पाता है तो वह पहलेसे भी बुरी अवस्थामें होता है न कि पहलेसे अच्छी अवस्थामें।

इसलिये बुद्धिमानी इसीमें है कि इन कठिनाइयोंका इसी जीवनमें और इसी शरीरमें सामना किया जाय और उनपर विजय प्राप्त की जाय।

योगके लक्ष्यको प्राप्त कर लेना कठिन तो सदा ही होता है, पर यह योग तो अन्य किसी भी योगकी अपेक्षा और भी अधिक दुष्कर है, और यह केवल उन्हींके लिये है जिनकी आत्मासे इसके लिये पुकार उठी है, जिनमें इसे करनेकी क्षमता है, जो हरेक बातोंका सामना करने, हरेक प्रकारकी जोखम, यहांतक कि विफलताकी जोखम भी उठानेके लिये तैयार हैं, तथा जिनका निःस्वार्थता, निष्कामता और आत्मसमर्पणको पूर्ण कर लेनेकी ओर अग्रसर होनेका संकल्प है।

*

* *

माताकी शक्ति और तुम्हारे अपने बीचमें किसी भी अन्य वस्तु या व्यक्तिको मत आने दो। इस शक्तिको अपनेमें आने देने और इसे बनाये रखनेपर तथा सत्यप्रेरणाको स्वीकार करते रहनेपर ही सफलता निर्भर करती है, न कि मनके रचे हुए किन्हीं विचारोंपर। वे विचार अथवा योजनाएं भी जो कि

वैसे बहुत उपयोगी हो सकती हैं, विफल हो जायंगी यदि उनके पीछे यह सत्य भावना और यह सत्यशक्ति तथा प्रभाव न हो ।

*

*　　*

यह कठिनाई अवश्य ही अविश्वास और अवज्ञाके कारण उपस्थित हुई है । कारण, अविश्वास और अवज्ञा मिथ्या वस्तुओंको सहारा देते हैं (ये स्वतः भी एक प्रकारके मिथ्यापन हैं जो कि मिथ्या विचारों और मिथ्या आवेशोंपर अपना आधार रखते हैं), ये शक्तिके कार्यमें हस्तक्षेप करते हैं, इस शक्तिकी अनुभूति प्राप्त होने देनेमें या इसे पूर्ण रूपसे अपना कार्य करने देनेमें रुकावट डालते हैं और भागवत संरक्षणकी शक्तिको क्षीण करते हैं ।

केवल अपनी अन्तर्मुखी एकाग्रतामें ही नहीं, किन्तु अपने बहिर्मुखी कर्मों और प्रवृत्तियोंमें भी तुम्हें उचित भाव रखना चाहिये । यदि तुम यह करो और अपनी हरेक बातको माताके नेतृत्वके

अधीन कर दो, तो तुम यह देखोगे कि कठिनाइयां क्षीण होती जा रही हैं अथवा वे आसानीसे दूर हो रही हैं और सब कुछ निश्चित रूपसे सहज होता जा रहा है।

अपने कर्म और क्रियाओंमें भी तुम्हें वही करना है जो तुम अपने ध्यानमें करते हो। **माता**की ओर उद्घाटित होओ, अपने कर्म और क्रियाओंको उनके नेतृत्वके अधीन कर दो, शान्तिका, धातृशक्तिका और संरक्षणका आवाहन करो और ये अपना कार्य कर सकें, इसके लिये उन सब मिथ्या प्रभावोंका त्याग करो जो भ्रान्त, असावधान अथवा अजाग्रत गतियोंको उत्पन्न करनेके द्वारा उनके कार्यमें बाधक हो सकते हैं।

इस सिद्धान्तका अनुसरण करो तो तुम्हारी समस्त सत्ता शान्तिमें, आश्रय देनेवाली **शक्ति**में और **प्रकाश**में एक (अविभक्त) हो जायगी और एक छत्र तले आ जायगी!

*

* *

अन्तरात्माके प्रकाशके प्रति तथा दिव्य पुकारके प्रति सच्चे रहनेको जब मैंने कहा था तब मैं भूतकालकी किसी बातकी तरफ या तुम्हारी किसी त्रुटिकी तरफ संकेत नहीं कर रहा था। मैं तो केवल उस बातका प्रतिपादन कर रहा था जो संकटकालमें तथा आक्रमणोंके होनेपर बहुत अधिक आवश्यक है, अर्थात् किन्हीं भी विपरीत सुझावों, आवेशों, प्रलोभनोंपर ध्यान देनेसे इनकार करना और उन सबके मुकाबलेमें सत्यकी जो पुकार तुम सुन रहे हो उसे तथा ज्योतिके जिस अनुल्लंघनीय अंगुलि-निर्देशको तुम देख रहे हो उसे स्थापित करना। हरेक संदेह और उदासीके समय यह कहना कि "मैं भगवान्का हूं, मैं कभी असफल नहीं हो सकता"; अशुद्धियों तथा अयोग्यताओंके सुझावोंके आनेपर यह उत्तर देना कि "मैं भगवान्का चुना हुआ अमृतका पुत्र हूं; मुझे तो केवल अपने प्रति और भगवान्के प्रति सच्चा बने रहना है— फिर विजय निश्चित है, यदि मैं कभी गिर भी

पड़ूंगा तो फिर उठ खड़ा होऊंगा"; इस मार्गसे हट जाने तथा किसी छोटे आदर्शकी सेवा करनेके आवेश जब उठें तो यह कहना कि "यही वह सर्वोत्तम वस्तु है, यही **सत्य** है जो मेरे अंतरात्माको संतुष्ट कर सकता है, मुझे सब कठिनाइयोंसे गुजरते हुए भी अंततक इस दिव्य यात्रामें टिके रहना है"— दिव्य प्रकाश और दिव्य पुकारके प्रति सच्चे रहनेकी बातसे मेरा यही मतलब था।

इच्छा (कामना)

आहार

कामवासना

प्राणकी सभी साधारण गतियां सत्य सत्ताके लिये विजातीय वस्तु हैं और ये बाहरसे आती हैं; न तो ये अन्तरात्मासे कोई संबंध रखती हैं और न ये इससे उत्पन्न ही होती हैं, ये तो सामान्य प्रकृतिसे आनेवाली लहरें हैं।

इच्छाएं बाहरसे आती हैं, अवचेतन प्राणमें प्रवेश कर जाती हैं और फिर ऊपरी तलपर उठ आती हैं। जब ये ऊपरी तलपर उठ आती हैं और मनको इनका बोध होता है तभी हम लोगोंको इन इच्छाओंका पता लगता है। हम लोग इनको इसलिये अपनी मान लेते हैं कि हम इन्हें इस प्रकार प्राणसे उठकर मनमें जाती हुई अनुभव करते हैं और हमको यह पता नहीं होता कि ये बाहरसे आयी हैं। जो वस्तु वस्तुतः हमारे प्राणकी, सत्ताकी है, जो इस प्राण या सत्ताको इच्छाओंको पैदा करनेके लिये उत्तरदायी बनाती है, वह वस्तु स्वतः इच्छा नहीं है, किन्तु वह है उन लहरों अथवा सुझावोंकी उन धाराओंको अपना

लेनेकी हमारी आदत, जो लहरें या धाराएं हमारे प्राण या सत्ताके अंदर विश्वप्रकृतिसे आती रहती हैं।

*

*   *

इच्छाका त्याग तत्त्वतः तृष्णा या लालसाके भावका त्याग है, इसको एक विजातीय वस्तुके तौरपर, जिसका कि अपने सत्य स्वरूप या आन्तरिक प्रकृतिसे कोई संबंध नहीं, अपनी चेतनासे ही बाहर निकाल फेंकना है। किन्तु इच्छाकी पूर्त्ति करनेसे इनकार करना भी उसके त्यागका ही एक अंग है; अतः इन इच्छाओंद्वारा सुझाये हुए कार्यसे, यदि वह कार्य ठीक नहीं है, अलग रहना भी योगसाधनके नियमोंके अंतर्गत ही है। इस त्यागको जब हम अनुचित रीतिसे करते हैं, केवल मानसिक वैराग्यके सिद्धान्तोंसे अथवा किसी कठोर नैतिक नियमके तौरपर ही करते हैं तभी यह निग्रह कहा जा सकता है। निग्रह और अंदरके असली त्यागमें वही भेद है जो भेद

मानसिक या नैतिक नियंत्रण और आध्यात्मिक शुद्धिमें है।

जब मनुष्य सत्य चेतनामें रहता है तभी वह इच्छाओंको अपनेसे बाहर अनुभव करता है, यह अनुभव करता है कि ये मन और प्राणके भागमें बाहरसे अर्थात् निम्न विश्वप्रकृतिसे आती हैं। साधारण मानवी अवस्थामें यह अनुभव नहीं होता; मनुष्य इन इच्छाओंको उसी समय जान पाते हैं जब ये वहां उपस्थित हो जाती हैं, जब ये अंदर पहुंच जाती हैं और वहां इनको निवास करनेके लिये एक स्थान मिल जाता है या ऐसी जगह मिल जाती है जहां ये आकर आदतन ठहरने लगें, तब वे ऐसा समझने लगते हैं कि ये इच्छाएं उन्हींकी हैं और उनका अपना एक अंग हैं। इसलिये इच्छाओंसे छुटकारा पानेके लिये पहली शर्त्त यह है कि मनुष्य अपनी सत्य चेतनामें जागृत हो जाय; कारण ऐसा होनेसे इच्छाओंको दूर भगाना उस अवस्थाकी अपेक्षा बहुत सहज हो जाता है जिस अवस्थामें मनुष्यको

इनके साथ यह समझकर संघर्ष करना पड़ता है मानो ये उसकी अपनी रचनाके ही अवयव हों जिन्हें उसको अपनी सत्तामेंसे निकाल बाहर करना है। बाहरसे आये हुए किसी उपचयको निकाल फेंकना आसान है, पर जिसे अपनी सत्ताका भाग अनुभव किया जा रहा है उसे काट फेंकना बड़ा कठिन है।

जब हृत्पुरुष सामने रहता है तब भी इच्छासे छुटकारा पाना सहज हो जाता है, कारण हृत्पुरुषमें अपने-आपमें कोई इच्छा नहीं होती, उसमें तो केवल अभीप्साएं होती हैं और भगवान्को तथा उन सब चीजोंको, जो भगवान्की ओर हैं या उनकी ओर प्रवृत्त हैं, प्राप्त करनेकी चाह और प्रेम होता है। हृत्पुरुषकी प्रधानताका सातत्य अपने-आप ही सत्य चेतनाको बाहर निकाल लाता है और प्रकृतिकी गतियोंको आप-से-आप उचित रास्तेपर ला देता है।

*

* *

मांग और इच्छा ये तो एक ही चीजके दो भिन्न रूप हैं—यह भी जरूरी नहीं कि हमारे जिस भावमें क्षोभ और अचंचलता हो वही इच्छा कहलाय; बल्कि, इच्छा तो शान्त भावसे स्थिर और स्थायी रहनेवाली हो सकती है अथवा स्थायी रूपसे बार-बार आनेवाली हो सकती है। मांग अथवा इच्छा मन या प्राणसे आती है, परन्तु हृत्पुरुषकी या आत्माकी आवश्यकता यह एक दूसरी ही वस्तु है। हृत्पुरुषकी न कोई मांग होती है न इच्छा—वह तो अभीप्सा करता है; अपने समर्पणके लिये वह कोई शर्त्त नहीं लगाता और यदि उसकी अभीप्साको तुरत संतुष्ट नहीं किया गया तो इससे वह भगवान्से विमुख नहीं होता—कारण हृत्पुरुषका **भगवान्में** अथवा **गुरुमें** पूर्ण विश्वास होता है और वह **भगवत्-प्रसाद**को प्राप्त होनेकी ठीक घड़ी या उसके लिये उपयुक्त समयतक प्रतीक्षा कर सकता है। हृत्पुरुषका अपना ही एक आग्रह होता है, परन्तु वह उस आग्रहका दबाव भगवान्पर नहीं डालता किन्तु प्रकृतिपर डालता है; इस प्रकार वह उन समस्त

दोषोंको, जो सिद्धिके मार्गमें बाधक होते हैं, अपनी ज्ञानमय अंगुली रखकर दिखा देता है तथा योगकी विविध गतियोंमें अथवा अनुभूतिमें जो कुछ मिश्रण हो गया है, जो अज्ञानमय है अथवा अपूर्ण है, उस सबको निकालकर शुद्ध करता है और अपने-आपसे अथवा प्रकृतिसे उस समयतक संतुष्ट नहीं होता जब-तक वह उसको भगवान्की ओर पूर्ण रूपसे उद्घाटित, सब प्रकारके अहंकारसे मुक्त, शरणागत तथा उसकी समस्त गतियों और भावमें सरल और ठीक रहनेवाली नहीं बना लेता। इससे पूर्व कि समस्त प्रकृतिका विज्ञानमय तत्त्वद्वारा दिव्यीकरण संभव हो सके, उपर्युक्त अवस्थाका मन, प्राण और भौतिक चेतनामें पूर्ण रूपसे स्थापित हो जाना आवश्यक है। अन्यथा साधक जो कुछ प्राप्त करता है वह मानसिक, प्राणसंबंधी और भौतिक स्तरोंपर होनेवाली कुछ ऐसी ही थोड़ी बहुत चमकीली, आधी प्रकाशित आधी अंधेरीसी ज्योतियां और अनुभूतियां होती हैं, जिनकी प्रेरणा या तो किसी बृहत्तर मन अथवा बृहत्तर प्राणसे होती है या अधिकसे अधिक मानव-

मनके ऊपरके उन स्थानोंसे होती है जो बुद्धि और अधिमानसके बीचमें पड़ते हैं। ये ज्योतियां और अनुभूतियां किसी अंशतक बहुत ही उत्साहवर्धक और संतोषप्रद हो सकती हैं और उनके लिये अच्छी भी हो सकती हैं जो इन्हीं स्तरोंपर किसी प्रकारकी आध्यात्मिक उपलब्धि करना चाहते हैं; किन्तु विज्ञानमय उपलब्धि एक ऐसी वस्तु है जो कहीं अधिक कठिन है और इसकी शर्त्तें बहुत ही कड़ी हैं और जो बात सबसे अधिक कठिन है वह है इस विज्ञानमय उपलब्धिको भौतिक क्षेत्रमें उतार लाना।

*

* *

इच्छासे सर्वथा छुटकारा पा लेनेमें देर लगती है। किन्तु यदि तुम एक बार भी इसे अपनी प्रकृतिमेंसे निकाल बाहर कर सको और यह अनुभव कर सको कि यह एक शक्ति है जो बाहरसे आती है और प्राण और शरीरको अपने पंजेमें ले लेना चाहती है

तो तुम्हें इस आक्रमणकारीके चंगुलसे छुटकारा पाना सहज हो जायगा। तुम यह मान लेनेके अत्यधिक अभ्यासी हो गये हो कि यह इच्छा तुम्हारा ही एक अंग है अथवा तुममें इसकी जड़ जम गयी है— इसीसे इसकी प्रवृत्तियोंपर अधिकार रखना और दीर्घकालसे स्थापित हुए इसके प्रभुत्वको अपने ऊपरसे हटाना तुम्हारे लिये कठिन हो जाता है।

तुम्हें दूसरी किसी भी चीजपर पूरा भरोसा नहीं करना चाहिये, चाहे वह कैसी ही लाभदायक क्यों न दिखायी देती हो, किन्तु प्रधानतः, मुख्यतः और मूलतः **माताकी** शक्तिपर ही भरोसा करना चाहिये। सूर्य और ज्योतिसे संभव है कोई सहायता मिले और यदि वह सत्य ज्योति और सत्य सूर्य है तो अवश्य ही मिलेगी, परन्तु ये **माताकी शक्तिका स्थान** नहीं ग्रहण कर सकते।

*

*   *

साधककी आवश्यकताएं इतनी कम होनी चाहिये जितनी कि वह अधिक-से-अधिक कम कर सकता हो, कारण जीवनके लिये जिन चीजोंकी वास्तवमें आवश्यकता है ऐसी चीजें तो बहुत थोड़ीसी ही हैं। बाकीकी चीजें या तो उपयोगिताके कारण व्यवहार की जाती हैं या जीवनका श्रृंगार बना ली जाती हैं अथवा विलासिताके लिये हैं। योगीको इन चीजोंके रखने या भोगनेका अधिकार केवल इन दो अवस्थाओंमेंसे किसी एकमें हो सकता है—

(१) यदि वह अपनी साधनामें इनका उपयोग केवल इसीलिये करता है कि वह कामना और अनासक्तिके बिना ही इन वस्तुओंके स्वामी बननेका अपनेको अभ्यासी बना सके और इनका भागवत संकल्पके अनुसार सम्यक् व्यवहार तथा यथोचित संगठन, व्यवस्था और परिमाणके साथ ठीक रूपमें उपयोग करना सीख सके—

या फिर (२) यदि वह कामना और आसक्तिसे यथार्थमें मुक्ति पा चुका हो और इन विषयोंके नाश

या अप्राप्ति अथवा इनसे वंचित किये जानेपर किसी भी प्रकारसे जरा भी विचलित या विकृत न होता हो। यदि उसको किसी भी प्रकारका लोभ, इच्छा, मांग, इन वस्तुओंके रखने या भोगनेका दावा होता है, इनके न मिलनेसे या इनके छिन जानेसे किसी भी प्रकारकी चिन्ता, शोक, क्रोध अथवा विकलता होती है तो वह यथार्थमें मुक्त नहीं है और उसका इन वस्तुओंको जो उसके पास हैं, उपयोग करना साधनाके विपरीत है। और यदि वह यथार्थमें इनसे मुक्त हो भी गया है तो भी वह इन चीजोंको रखनेका उस समयतक अधिकारी नहीं बनता जबतक उसने इन चीजोंको अपने लिये नहीं, बल्कि भागवत संकल्पके लिये—अपने-आपको भागवत संकल्पका एक यंत्र बनाकर उस संकल्पकी पूर्त्तिके लिये—उपयोग करना न सीख लिया हो, इस उपयोगके लिये ठीक क्रिया और ठीक ज्ञान न प्राप्त कर लिया हो और यह न जान लिया हो कि इन चीजोंका व्यवहार उस जीवनको साधन-संपन्न करनेके लिये

है जिस जीवनका धारण अपने लिये नहीं, बल्कि भगवान्‌के लिये और भगवान्‌में है।

*

* *

वैराग्य वैराग्यके लिये ही करना यह इस योगका आदर्श नहीं, किन्तु प्राणपर आत्मसंयम रखना और भौतिक पदार्थोंके विषयमें उचित नियम रखना ये अवश्य इस योगके मुख्य अंग हैं—और सच्चे संयमके अभावकी अपेक्षा तो वैराग्यकी साधना भी हमारे प्रयोजनके लिये अधिक अच्छी है। भौतिक पदार्थोंपर प्रभुत्व स्थापित करनेका यह अर्थ नहीं है कि उसे प्रचुर परिमाणमें प्राप्त करना और फिर दोनों हाथोंसे लुटाते रहना अथवा जिस शीघ्रतासे वह प्राप्त हो उसी तरह या उससे भी शीघ्रतर उसको बरबाद करते रहना। प्रभुत्वका अर्थ है उन चीजोंका उचित और सावधानीसे व्यवहार तथा उनके प्रयोगमें आत्म-नियंत्रण।

*

* *

योगके आधार

यदि तुम योग करना चाहते हो तो तुमको सभी बातोंमें, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, अधिकाधिक यौगिक भाव धारण करना चाहिये । हमारे मार्गमें यह यौगिक भाव विषयोंका जबरदस्ती निग्रह करके नहीं, किन्तु इनके संबंधमें अनासक्ति और समता रखकर धारण किया जाता है । इच्छाओंका जबरदस्ती निग्रह (उपवास इसी श्रेणीमें आता है) और इनका स्वच्छंद उपभोग ये एक ही कोटिकी बातें हैं; दोनों ही अवस्थामें वासना तो बनी ही रहती है; एकमें विषयोपभोगद्वारा उसकी तृप्ति होती रहती है, दूसरीमें निग्रहद्वारा और भी अधिक भड़की हुई अवस्थामें वह दबी पड़ी रहती है । जब कोई इनसे अलग हट जाता है और निम्नप्राणकी इच्छाओं और कोलाहलोंको अपना समझनेसे इनकार करते हुए अपने-आपको इनसे जुदा कर लेता है और इनके संबंधमें अपनी चेतनामें एक पूर्ण समता और शान्तिकी स्थितिका निर्माण कर लेता है तभी ऐसा होता है कि उसका निम्नप्राण स्वयं क्रमशः शुद्ध होता जाता है और वह स्वतः स्थिर और सम भी

हो जाता है । इच्छाकी प्रत्येक लहरका, उसके आते ही, हमें निरीक्षण करना चाहिये, ऐसी शान्ति और ऐसी अविचल अनासक्तिके साथ निरीक्षण करना चाहिये जैसे कि हम अपनेसे बाहर हो रही किसी घटनाको देख रहे हों और उसे हमारी चेतनाद्वारा त्यक्त होकर गुजर जाने देना चाहिये तथा उसके स्थानपर सत्यगति और सत्यचेतनाको क्रमशः स्थापित होने देना चाहिये ।

*

* *

आहारके संबंधमें जो बात यौगिक भावनाके विपरीत है, वह है आहारमें आसक्ति, उसके लिये लालसा और उत्सुकताका होना, उसे जीवनमें आवश्यकतासे अधिक महत्वकी वस्तु बना देना । इस बातकी प्रतीति होना कि अमुक वस्तु रसनेन्द्रियके लिये सुखकर है, कोई बुरी बात नहीं है; पर उस वस्तुके लिये न तो कामना होनी चाहिये न विकलता,

न तो उसके प्राप्त होनेपर हर्षोल्लास होना चाहिये न उसकी अप्राप्तिसे किसी प्रकारकी अप्रसन्नता या खेद। जब आहार स्वादिष्ट न हो अथवा प्रचुर मात्रामें न हो तो विक्षुब्ध या असंतुष्ट हुए बिना साधकको स्थिर और सम रहना चाहिये—जितनी आवश्यकता है उसके अनुसार नियत परिमाणमें, न कम न अधिक, भोजन करनेका उसे अभ्यासी होना चाहिये। न तो उसे भोजनके लिये कभी उत्सुकता हो और न अरुचि।

आहारके विषयमें बराबर सोचते रहना और इस तरह मनको कष्ट देते रहना, यह रसनेन्द्रियकी वासनासे छुटकारा पानेका बिलकुल उलटा रास्ता है। आहार-तत्त्वको, जीवनमें उसके लिये उपयुक्त स्थान देकर, एक कोनेमें रख दो और सदा उसका ध्यान मत करो, बल्कि अपना ध्यान दूसरी बातोंमें लगाओ।

*

*　*

आहारके संबंधमें अपने मनको कष्ट मत दो। इसका उचित मात्रामें (न अत्यधिक न अत्यल्प) सेवन करो, इसके लिये न तो लालसा हो न अरुचि, बल्कि तुम्हारा यह भाव रहे कि शरीरकी रक्षाके लिये **माताका** दिया हुआ यह एक साधन है, इसका सेवन उचित भावसे और तुम्हारे अंदर जो भगवान् हैं उनको अर्पण करते हुए करो; तब कोई कारण नहीं है कि यह भोजन तुम्हारे अंदर तमोगुण उत्पन्न कर सके।

*

* *

स्वादको, रसको सर्वथा दबा देना यह इस योगसाधनका कोई अंग नहीं है। जिस बातसे छुटकारा पाना है वह है प्राणगत इच्छा और आसक्ति, आहारके लिये लालसा, अपने मन-पसंद भोजनके मिलनेपर हर्षसे फूल जाना और इसके न मिलनेपर दुःखित और असंतुष्ट होना, भोजनको अनावश्यक

महत्व देना। यहांपर भी, जैसे अन्य बहुत-सी बातोंमें, सम रहना ही परख है।

*

* *

आहारको त्याग देनेका विचार एक भ्रामक प्रेरणा है। तुम अल्पमात्रामें आहार करके काम चला सकते हो पर पूर्ण उपवास करके नहीं, यह तो कभी किसी थोड़े समयके लिये ही किया जा सकता है। इस विषयमें गीताके कथनको याद रखो:—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।

"योग उसके लिये नहीं है जो बहुत अधिक भोजन करता है और उसके लिये भी नहीं है जो एकदम कुछ नहीं खाता।" प्राणशक्ति एक और ही बात है—इसको तो आहारके बिना भी प्रचुर परिमाणमें प्राप्त किया जा सकता है और उपवास करनेसे इसकी प्रायः वृद्धि ही होती है; किन्तु भौतिक तत्त्व जिसके बिना जीवनका

अवलम्ब नष्ट हो जाता है, एक दूसरी ही प्रकारकी वस्तु है।

*

*   *

प्रकृतिकी इस साधारण गति (आहार-कामना) की न तो उपेक्षा ही करो न इसे बहुत महत्व ही दो; अवश्य ही इसे भी छोड़ना नहीं है, इसे भी शुद्ध करना और इसपर प्रभुत्व स्थापित करना है, परन्तु यह सब करना है इसे बहुत अधिक महत्व दिये बिना ही। इसपर विजय प्राप्त करनेके दो मार्ग हैं—एक है अनासक्तिका मार्ग, जिसमें यह समझनेका अभ्यास करना होता है कि आहार केवल एक भौतिक आवश्यकता है और रसना तथा उदरके प्राणमय भागकी तृप्ति कोई महत्वकी वस्तु नहीं है; दूसरा मार्ग है कि बिना किसी आग्रह या चाहके जैसा भी भोजन मिल जाय उसे स्वीकार करने तथा उसमें (दूसरे चाहे उसे अच्छा कहें या बुरा) एक समान रस लेनेमें समर्थ होना—यह रस वह भोजनका

केवल भोजनके लिये ही नहीं लेता, किन्तु वह भोजनमें विश्वव्यापी आनन्दका रस लेता है।

*

*   *

शरीरकी अवहेलना करना और उसको क्षीण होने देना भूल है; शरीरसे तो साधना होती है इसलिये हमें इसको स्वस्थ बनाये रखना चाहिये। अवश्य ही इसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु अपनी प्रकृतिके इस जड़ भागसे घृणा करना या इसकी उपेक्षा करना भी उचित नहीं है।

इस योगका ध्येय केवल उच्चतर चैतन्यसे संयोग प्राप्त करना ही नहीं है, किन्तु (उसकी शक्तिद्वारा) निम्नतर चैतन्यका, जिसके अन्तर्गत भौतिक प्रकृति भी आ जाती है, परिवर्त्तन करना भी है।

खानेके लिये यह आवश्यक नहीं कि भोजनमें कामना या लालसा हो। योगी इच्छाके वश

होकर नहीं खाता, किन्तु शरीर धारण करनेके लिये खाता है ।

*

*　　*

यह सच है कि उपवास करनेसे, यदि उपवास करनेवालेका मन और स्नायुतन्त्र सुदृढ़ है अथवा उसकी संकल्पशक्ति गतिशील है, तो उसे कुछ समयके लिये एक ऐसी आंतरिक शक्तिमत्ता और ग्रहणशीलताकी अवस्था प्राप्त हो सकती है जो कि मनके लिये बड़ी लुभावनी होती है और वह उपवासकी साधारण प्रतिक्रियाओं, क्षुधा, दुर्बलता और अंतड़ियोंकी गड़बड़ आदिसे सर्वथा बचा भी रह सकता है । किन्तु आहारहीनताके कारण शरीरको नुकसान पहुंचता है और यह भी बहुत संभव है कि प्राणशक्तिके बहुत अधिक समावेश हो जानेसे, जिसको स्नायवीय संस्थान संभाल या पचा नहीं सकता, प्राणमें एक अस्वस्थता और अत्यधिक थकावटकी अवस्था सहज ही उत्पन्न हो जाय ।

जिसकी स्नायुएं दुर्बल हैं ऐसे मनुष्यको उपवास करनेके प्रलोभनसे बंचना चाहिये, ऐसे मनुष्यको उपवासके समय या उपवासके बाद प्रायः भ्रान्ति होती है और समताका ह्रास होता है। विशेषतः यदि इसमें भूख-हड़ताल करनेकी वृत्ति रहती है या वह तत्त्व उसमें घुस आता है तो उपवास करना खतरनाक हो जाता है, कारण ऐसा करना प्राणकी एक गतिको प्रश्रय देना हो जाता है और इस गतिका सहज ही एक अभ्यास पड़ सकता है जो साधनाके लिये हानिकारक और घातक है। यदि इन सब प्रतिक्रियाओंसे बचा भी जा सके तो भी उपवास करनेकी कोई पर्याप्त उपयोगिता नहीं है, कारण उच्चतर शक्ति और ग्रहणशीलता किसी कृत्रिम अथवा भौतिक उपाय-द्वारा नहीं, किन्तु हमारी चेतनाकी तीव्रता और साधना करनेके लिये हमारे दृढ़ संकल्पके द्वारा ही आनी चाहिये।

*

* *

जिस रूपान्तरकी हम लोग अभीप्सा करते हैं वह इतना विशाल और जटिल है कि यह एकबारगी नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसे तो क्रमशः एकके बाद एक कितनी ही अवस्थाओंमेंसे गुजर-कर ही प्राप्त करना होगा। भौतिक परिवर्त्तन इन अवस्थाओंमेंसे सबसे अंतिम अवस्था है और वह स्वयं भी एक ऐसी प्रक्रिया है जो क्रमशः ही होती है।

आन्तरिक रूपान्तर भौतिक साधनोंके द्वारा नहीं किया जा सकता, फिर ये भौतिक साधन चाहे भावात्मक स्वभावके हों या अभावात्मक स्वभावके। इसके विपरीत, स्वयं इस भौतिक शरीरका परिवर्त्तन भी शरीरके समस्त परमाणुओंमें महत्तर विज्ञानमय चेतनाके अवतरण होनेसे ही किया जा सकता है। इसलिये कम-से-कम उस समयतक जबतक कि यह अवतरण नहीं हो जाता, शरीरको और उसकी पोषक शक्तियोंको अंशतः साधारण साधनोंके द्वारा—आहार, निद्रा आदिके द्वारा—ही बनाये रखना

होगा । आहारको उचित भावसे और उचित चेतनाके साथ ग्रहण करना होगा; निद्राको क्रमशः यौगिक विश्रामके रूपमें परिवर्त्तित करना होगा। असामयिक और अतिशयित शारीरिक तपस्याके कारण आधारके विभिन्न भागोंमें शक्तियोंकी हलचल और विषमता उत्पन्न हो जानेसे साधनाकी प्रक्रियामें बाधा पहुंच सकती है। मनोमय और प्राणमय भागोंमें एक महान् शक्ति उतर आ सकती है, किन्तु इससे स्नायुएं और शरीर अत्यधिक क्लान्त हो जा सकते और इन उच्चतर शक्तियोंकी क्रीड़ाको धारण करनेके अपने सामर्थ्यको गंवा सकते हैं। यही कारण है कि अत्यंत शारीरिक तपस्याका यहां साधनाके प्रधान अंगके रूपमें समावेश नहीं किया गया है।

कभी-कभी एक या दो दिनके लिये उपवास करनेसे या आहारकी मात्रा इस परिमाणमें घटा देनेसे कि वह कम तो हो पर शरीरके लिये पर्याप्त

हो, कोई हानि नहीं है; किन्तु एक दीर्घ कालतक एकदम निराहार रहना उचित नहीं है।

*

* *

कामावेगका प्राण और शरीरपर जो आक्रमण होता है इससे साधकको एकदम अलग रहना होगा—कारण जबतक वह कामावेगको नहीं जीत लेता तबतक उसके शरीरमें भागवत चेतना और भागवत आनन्दका संस्थापन नहीं हो सकता।

*

* *

यह ठीक है कि इच्छाओंका निग्रह करना अथवा उनको दबा रखना ही पर्याप्त नहीं है, इतनासा प्रयत्न पूरी तरह कारगर भी नहीं होता, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इच्छाओंके अनुसार विषयोपभोग किया जाय। इसका अर्थ यह है कि इच्छाओंका केवल निग्रह ही नहीं करना होगा बल्कि इनको

अपने स्वभावमेंसे निकाल बाहर करना होगा। इच्छाओंके स्थानपर होनी चाहिये भगवान्‌के लिये अनन्य अभीप्सा।

रहा प्रेम, सो इस प्रेमको भी एकमात्र भगवान्‌के ही अभिमुख करना चाहिये। प्रेमके नामसे जिस चीजको लोग पुकारते हैं वह तो इच्छाकी, प्राणगत आवेगकी या शारीरिक सुखकी परस्पर तृप्ति करनेके लिये किया गया प्राणका आदान-प्रदान होता है। साधकोंमें इस प्रकारका कोई भी आदान-प्रदान नहीं होना चाहिये; कारण इसकी चाहना करनेसे अथवा इस प्रकारके आवेगको आश्रय देनेसे केवल यही होता है कि वह साधनासे दूर हो जाता है।

*

* *

इस योगका सारा सिद्धान्त ही यह है कि अपने-आपको पूर्ण रूपसे भगवान्‌को—केवल भगवान्‌को—

दान कर देना और किसी भी व्यक्ति या वस्तुको नहीं, तथा भगवती मातृशक्तिके साथ योगयुक्त होकर अपने अंदर विज्ञानमय भगवान्‌की पूर्ण परात्पर ज्योति, शक्ति, विस्तीर्णता, शान्ति, शुद्धि, सत्य-चेतना और आनन्दको उतार लाना। अतएव इस योगमें दूसरोंके साथ प्राणका किसी भी प्रकारका संबंध स्थापित करने या आदान-प्रदान करनेके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं है; इस प्रकारका कोई भी संबंध या आदान-प्रदान तुरत ही अन्तरात्माको निम्नतर चेतना और उसकी निम्नतर प्रकृतिके साथ बांध देता है, भगवान्‌के साथ सच्चा और पूर्ण योग होने देनेसे रोकता है और विज्ञानमयी सत्य-चेतनामें आरोहण तथा विज्ञानमयी ईश्वरी-शक्तिका अवतरण इन दोनों ही कामोंमें बाधा उपस्थित करता है। इससे भी अधिक बुरा होगा यदि यह आदान-प्रदान एक काम-संबंध अथवा कामोपभोगका रूप धारण करे, चाहे वह किसी बाह्य क्रियामें परिणत होनेसे बिलकुल बचा क्यों न रहे; अतएव ये सब बातें साधनामें सर्वथा वर्जित हैं। इसके कहनेकी तो

आवश्यकता ही नहीं है कि ऐसी कोई भी शारीरिक क्रियाका करना मना है; बल्कि काम-वासनाके किसी सूक्ष्मतर रूपकी भी यहां गुंजाइश नहीं है। जब हम विज्ञानमय भगवान्‌के साथ एक हो जाते हैं तभी यह संभव है कि भगवान्‌के अंदर हमारा जो एक दूसरोंके साथ सत्य आध्यात्मिक संबंध है उसको प्राप्त कर सकें; उस उच्चतर एकतामें इस प्रकारकी स्थूल निम्नतर प्राणकी गतियोंको कोई स्थान दिया ही नहीं जा सकता।

कामावेगपर प्रभुत्व स्थापित कर लेना, काम-केन्द्रपर इतना अधिक प्रभुत्व पा लेना कि वीर्य ऊर्ध्वगामी हो और वह बाहर फेंका जाकर नष्ट न कर दिया जाय—यह बात निःसंदेह ऐसी है कि रेतस्, अर्थात् शुक्र-बीजकी शक्ति परिवर्त्तित होकर ओजस् अर्थात् अन्य सभी अंगोंको धारण करनेवाली आद्या भौतिक शक्ति बन जाती है। किन्तु इससे बढ़कर भयंकर और कोई भूल नहीं हो सकती कि काम-वासनाके किसी संमिश्रणको और उसके किसी

प्रकारके सूक्ष्म उपभोगको स्वीकार कर लिया जाय और उसे साधनाका एक अंग मान लिया जाय। यह तो इस बातका अव्यर्थ उपाय होगा कि साधकके आध्यात्मिक पतनका सीधा रास्ता खुल जाय और वातावरणमें ऐसी शक्तियां प्रकट हो जायं जो उसके मार्गमें सदाके लिये विघ्नबाधाओं और आपत्तियोंका बीज बो देनेके लिये विरोधिनी प्राणशक्तियोंको उतार लावें और इस प्रकार विज्ञानमय अवतरणको रोक दें। यदि **सत्य**को उतार कर लाना है और इस कार्यको सिद्ध करना है तो इस प्रकारके पथ-भ्रंशकी संभावनाको भी एकदम निकाल फेंकना होगा और चेतनामेंसे इसका चिह्नतक मिटा देना होगा।

इस प्रकारकी कल्पना करना भी भूल है कि यद्यपि शरीरसे की जानेवाली काम-प्रेरित बाह्य क्रियाका तो त्याग करना होगा, पर उसका आन्तरिक पुनरुद्भव काम-केन्द्रके रूपान्तरका ही एक अंग है। प्रकृतिमें जो यह प्राणियोंकी काम-चेष्टा दिखायी देती है वह अज्ञानगत स्थूल सृष्टिकी कार्यप्रणालीमें एक विशिष्ट

उद्देश्यके लिये बनायी गयी है । किन्तु इसके साथमें जो प्राणोंकी उत्तेजना होती है वह वातावरणमें इस प्रकारके अत्यंत अनुकूल अवसर और कंपन पैदा करती है जिससे प्राणकी उन शक्तियों और सत्ताओंको, जिनका सारा काम ही इस विज्ञानमय ज्योतिके अवतरणमें बाधा डालना है, अंदर घुस आना बड़ा सहज हो जाता है । और इसके साथ जो एक सुख रहता है वह तो एक विकार है, वह भागवत आनन्दका सत्य-स्वरूप नहीं है । भौतिक देहमें होनेवाले वास्तविक भागवत आनन्दके गुण, गति और तत्त्व तो कुछ दूसरे ही प्रकारके होते हैं; यह आनन्द तत्त्वतः स्वतः-स्थित होते हुए भी इसकी अभिव्यक्ति एकमात्र भगवान्‌के साथ आन्तरिक संयोग-पर ही निर्भर करती है । तुमने **भागवत प्रेम** की चर्चा की है, किन्तु **भागवत प्रेम** जब शरीरका स्पर्श करता है, तब वह प्राणकी निम्नतर स्थूल प्रवृत्तियोंको नहीं जगाता; इन प्रवृत्तियोंमें पड़ जानेसे तो उलटे वह **भागवत प्रेम** उस ऊपरके स्तरमें पीछे हट जायगा जिस ऊंचाईसे उसको इस जड़ सृष्टि—

जिसका रूपान्तर केवल वही कर सकता है—की अनघड़ अवस्थाओंमें उतार लाना वैसे ही काफी कठिन है। **भागवत प्रेम**की चाहना एकमात्र उसी द्वारसे करो जिस द्वारसे वह तुम्हारे अंदर प्रवेश करना स्वीकार करेगा, अर्थात् हृत्पुरुषके द्वारसे; तथा निम्नप्राणकी अशुद्धिको निकालकर बाहर करो।

भौतिक सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये काम-केन्द्र और उसकी शक्तिका रूपान्तर किया जाना आवश्यक है, कारण शरीरमें यह काम-केन्द्र ही प्रकृतिकी समस्त मनोमय, प्राणमय और भौतिक शक्तियोंका अवलम्ब है। इसको एक आन्तरतम **ज्योति**, सृजनकारी **शक्ति**, शुद्ध भागवत् **आनन्द**की राशि और गतिमें परिवर्त्तित कर देना होगा। विज्ञानमय ज्योति, शक्ति और आनन्दको इस केन्द्रमें नीचे उतारकर लानेसे ही यह परिवर्त्तन किया जा सकता है। अब रहा यह कि ऐसा हो जानेपर आगेकी कार्य-प्रणाली क्या होगी, सो इस विषयको विज्ञानमय सत्य

निर्धारित करेगा और निर्धारित करेगी **भगवती माता**की सृजन-दृष्टि और संकल्प। किन्तु वह कार्य-प्रणाली एक सचेत जागृत सत्यकी कार्य-प्रणाली होगी, न कि अंधकार और अज्ञानकी जहां काम-वासना और काम-भोगका उद्भव होता है। वह तो जीवन-शक्तियोंके संरक्षित रखने और उनके अबाध निष्काम प्रसरणका बल होगा, न कि उनके बाहर फेंके जाने और बरबाद किये जानेका। इस कल्पनासे दूर रहो कि विज्ञानमय जीवन प्राण और शरीरकी कामनाओंकी एक संवर्धित तृप्ति ही तो होगा; **सत्य**के अवतरित होनेमें इससे बड़ी और कोई बाधा ही नहीं हो सकती कि हम इस प्रकार मानव-प्रकृतिमें पशुभावको बढ़ावा दिये जानेकी आशा करें। मन चाहता है कि विज्ञानमय अवस्था उसके अपने ही परिपालित विचारों और धारणाओंकी पुष्टि करनेवाली हो, प्राण चाहता है कि यह उसकी अपनी ही इच्छाओंका बढ़ा-चढ़ा रूप हो, शरीर चाहता है कि यह उसके अपने ही आरामों, सुखों और आदतोंका समृद्ध अवस्थामें लगातार जारी रहना

हो। यदि विज्ञानमय अवस्थासे यही सब होनेको है, तब तो यह पशु और मानव-प्रकृतिकी ही एक अतिरंजित और अत्यंत बढ़ी-चढ़ी पूर्णता होगी, न कि मानवताका दिव्यतामें अवस्थान्तर।

इस बातका विचार करना बहुत ही भयानक है कि तुम्हारे ऊपर "जो कुछ अवतरण करनेकी चेष्टा कर रहा है उसके विरुद्ध उचितानुचित विवेक और अपने बचावके सब प्रकारके प्रतिबंधको" तुम हटा दो। क्या तुमने इस बातका विचार किया है कि, यह जो अवतरण कर रहा है वह यदि भागवत **सत्य**के अनुकूल न हो अथवा यदि कहीं वह उसका विरोधी हो तो इसका क्या परिणाम होगा? विरोधी शक्ति साधकपर अपना अधिकार जमानेके लिये इससे अधिक अच्छी अवस्था नहीं चाहेगी। साधकको केवल **माता**की शक्ति और भागवत सत्यको ही बिना किसी प्रतिबंधके अंदर प्रवेश करने देना चाहिये। इस अवस्थामें भी अपनी विवेक-शक्तिको तो बनाये ही रखना होगा जिसमें वह किसी

असत्य वस्तुको, जो **माता**की शक्ति और भागवत **सत्य**का भेष धारण करके आवे, पहचान सके तथा उसको उस त्याग करनेकी शक्तिको भी बनाये रखना चाहिये जो तमाम ऐसी मिलावटको दूर फेंक सके ।

अपनी आध्यात्मिक भवितव्यतापर श्रद्धा रखो, भ्रान्तिसे अलग रहो और हृत्पुरुषको **माता**की ज्योति और शक्तिके सीधे परिचालनके प्रति अधिक उन्मुख करो । यदि हृदयका संकल्प सच्चा है तो प्रत्येक भूलकी पहचान, एक सत्यतर गति और उच्चतर उन्नतिके लिये एक-एक सीढ़ी बन जायगी ।

*

*   *

अपने पिछले पत्रमें मैं बहुत संक्षेपसे कामावेग और योगके संबंधमें अपनी स्थितिका वर्णन कर चुका हूं । यहां मैं इतना और जोड़ देना चाहता हूं कि मेरे ये निर्णय किसी मानसिक सम्मति अथवा

किन्हीं पूर्वनिश्चित नैतिक विचारोंपर नहीं, बल्कि प्रामाणिक तथ्योंपर और निरीक्षण तथा अनुभवपर स्थापित हैं। मैं इस बातसे इनकार नहीं करता कि यदि कोई आन्तर अनुभूति और बाह्य चेतनामें एक प्रकारका पार्थक्य रखे और बाह्य चेतनाको एक निम्न कोटिकी क्रिया समझकर उसपर विशेष ध्यान न देते हुए उसपर केवल नियंत्रण रखे पर उसका रूपांतर न करे, तो भी यह अवश्य संभव है कि काम-चेष्टाका पूर्ण त्याग किये बिना भी वह आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर सके तथा उन्नति कर सके। इस अवस्थामें मन अपने-आपको बाह्य प्राणों (जीवनके अंगों) की चेतना और भौतिक चेतनासे पृथक् कर लेता है और अपना एक अलग आभ्यन्तरीण जीवन व्यतीत करता है। किन्तु बहुत थोड़े ही लोग होते हैं जो वस्तुतः किसी पूर्णतातक ऐसा कर पाते हैं और साधककी अनुभूतियां जैसे ही जीवन-स्तर और शरीरकी ओर बढ़ती हैं, कामावेगके साथ इस प्रकारका बरताव करना असंभव हो जाता है। यह किसी भी समय साधनामें बाधा डालनेवाली,

अस्तव्यस्त कर देनेवाली और विकार पैदा करनेवाली शक्तिका रूप धारण कर सकता है। मैंने यह देखा है कि साधना करते हुए जिनका आध्यात्मिक विनाश हुआ है उनमें अहंकार (अभिमान, गर्व, महत्वाकांक्षा) तथा राजसिक लोलुपताओं और तृष्णाओंके समान ही यह भी एक प्रधान कारण रहा है। इसका पूरी तरह उच्छेद किये बिना केवल अनासक्तिद्वारा इसे ठीक करनेका प्रयत्न करना विफल हो जाता है। इसको ऊपर उठाकर शोधन करनेका प्रयत्न करना, जिसकी युरोपके कई आधुनिक गुप्तविद्याविदों (Mystics) ने सिफारिश की है, बड़ा ही जल्दबाजीसे भरा हुआ और खतरनाक परीक्षण है। क्योंकि काम-वासना और आध्यात्मिकताको जब कोई एक साथ मिला देता है तभी सत्यानाश होता है। इसको भगवान्‌की ओर पलटकर ऊपर उठानेका प्रयत्न करनेमें भी, जैसा कि वैष्णवोंके मधुर भावमें किया गया है, बड़ा भारी खतरा रहता है—यह इस तरीकेसे होनेवाली दुष्प्रवृत्ति या दुष्प्रयोगके परिणामोंसे प्रायः मालूम होता है।

जो भी हो, इस योगमें तो, जो केवल भगवान्‌की तात्त्विक रूपसे अनुभूति ही नहीं चाहता, बल्कि जिसकी चाह है समस्त सत्ता और प्रकृतिका रूपान्तर, मैंने यह पाया है कि काम-शक्तिपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेनेको लक्ष्य बनाना साधनाके लिये अत्यंत आवश्यक है; अन्यथा प्राणमय चेतना एक गंदली चीज ही रह जायगी, और यह गंदलापन आध्यात्मिक-भावापन्न मनकी शुद्धिको असर करेगा और शरीर-शक्तियोंकी ऊर्ध्व गतिमें भयानक बाधारूप होगा। इस योगकी यह मांग है कि समग्र निम्नतर अथवा साधारण चेतनाका पूर्ण आरोहण होकर वह उसके ऊपर जो आध्यात्मिक चेतना है उसमें जा मिले और आध्यात्मिक चेतना (अंतमें विज्ञानमय चेतना) का मन, प्राण और शरीरमें पूर्ण अवतरण हो जिसमें कि इनका रूपान्तर हो जाय। जबतक काम-वासना इस मार्गका अवरोध करती है तबतक पूर्ण आरोहण असंभव है और जबतक प्राणमें काम-वासना प्रबल है तबतक यह अवतरण हो जाना भी खतरनाक है। कारण कभी भी यह काम-वासना, जिसका उच्छेद

नहीं हुआ हो और जो सुप्त अवस्थामें मौजूद हो, ऐसे मिश्रणको उत्पन्न कर सकती है जो सत्य अवतरणको पीछे हटा दे और जो शक्ति प्राप्त हुई है उसे दूसरे कार्योंके लिये उपयोगमें ले आवे अथवा चेतनाकी समस्त क्रियाको किसी मिथ्या अनुभूतिकी ओर घुमा दे जो मलिन और भ्रांतिकारी हो। अतएव साधकको चाहिये कि वह इस बाधाको मार्गसे हटा दे; अन्यथा वह या तो सुरक्षित नहीं रह सकता या साधनाके अंतिम लक्ष्यकी ओर मुक्त गतिसे नहीं चल सकता।

जिस प्रतिकूल सम्मतिकी तुम चर्चा करते हो वह इस विचारके कारण बन सकती है कि प्राणान्नमय शरीरसे युक्त मानवी समग्रताका काम-वासना भी एक स्वाभाविक भाग है, आहार और निद्राके समान ही एक आवश्यकता है, और इसका सर्वथा निरोध कर देनेसे समतोलता नष्ट हो सकती है और गंभीर गड़बड़ी पैदा हो सकती है। और यह ठीक है कि, यदि कामका बाह्य क्रियामें तो निग्रह किया जाय पर

दूसरी-दूसरी तरहसे उसमें लिप्त रहा जाय तो इससे शारीरिक उपद्रव और दिमागी कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। यही चिकित्साशास्त्रके उस सिद्धान्तका मूल है जो काम-वासनाके संयम करनेको अनुत्साहित करता है। किन्तु हमने देखा है कि ये बातें तभी होती हैं जब या तो कोई सामान्य प्रकारकी काम-चेष्टाकी जगह किसी गुप्त और विकृत प्रकारकी काम-चेष्टाओंमें प्रवृत्त होता है अथवा वह कल्पनाके द्वारा या किसी रहस्यमय तरीकेके अदृश्य प्राणमय आदान-प्रदानके द्वारा एक प्रकारका सूक्ष्म प्राणमय उपभोग करता है—यदि इसपर प्रभुत्व स्थापन करने और इसका निरोध करनेके लिये सच्चा आध्यात्मिक प्रयत्न किया जाता है तो मैं नहीं समझता कि काम-वासनाके इस निरोधसे कभी कोई हानि होती है। अब इस बातको युरोपके बहुतसे डाक्टर स्वीकार करते हैं कि काम-चेष्टाका निरोध करना, यदि वह सच्चाईके साथ किया जाता है, लाभदायक है, कारण शुक्र (रेतस्) का वह तत्त्व जो काम-चेष्टामें व्यय होता है वह एक दूसरे तत्त्वके रूपमें परिवर्त्तित हो

जाता है जो आधारकी मन, प्राण और शरीर-संबंधिनी शक्तियोंका पोषण करता है—और यह एक ऐसी बात है जिससे ब्रह्मचर्यके भारतीय विचारकी सत्यता सिद्ध होती है, यह है "रेतस्" का "ओजस्" में रूपान्तर करना और उसकी शक्तियोंको ऊपर उठा ले जाना जिसमें वे आध्यात्मिक बलके रूपमें परिवर्त्तित हो जायं।

अब रहा इस प्रभुत्वके स्थापन करनेकी पद्धतिके संबंधमें, सो यह केवल शारीरिक संयमके द्वारा ही नहीं हो सकता—अनासक्ति और त्यागकी सम्मिलित प्रक्रियाद्वारा यह किया जाता है। चेतना कामावेगसे जुदा होकर ठहरती है और अनुभव करती है कि यह आवेग उसका अपना नहीं है, बल्कि एक ऐसी विजातीय वस्तु है जिसे प्रकृतिकी शक्तिने उसके ऊपर डाल दिया है, जिसे अंगीकार करने अथवा जिसके साथ एकाकार होनेसे वह इनकार करती है—इस तरह प्रत्येक बार इसे अस्वीकार करनेसे इसे जो एक प्रकारका धक्का-सा

लगता है वह इसे अधिकाधिक बाहर फेंकता जाता है। अब यह होता है कि मन इसके आवेगसे जरा भी विचलित नहीं होता; कुछ कालके बाद प्राण-सत्ता जो इसका प्रधान आधार है, वह भी मनकी ही तरह इससे अपना संबंध हटा लेती है; अन्तमें यह होता है कि भौतिक चेतना भी अधिक देरतक इसका आश्रय नहीं हो सकती और वह भी निवृत्त हो जाती है। यह प्रक्रिया उस समयतक चलती रहती है जबतक कि अवचेतनाकी भी यह हालत न हो जाय कि वह इसको स्वप्नमें भी न जगा सके और जबतक कि बाह्य प्रकृति-शक्तिसे इस निम्नतर अग्निको पुनः प्रज्वलित करनेके लिये आनेवाले आवेगोंका आना भविष्यके लिये एकदम रुक न जाय। यह प्रक्रिया उस समयके लिये है जब कि काम-प्रवृत्ति बुरी तरह घर किये होती है; किन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो प्रकृतिसे मूलतः और वह भी शीघ्र ही इसे जुदा करके इसको निश्चयात्मक रूपसे निकाल बाहर करते हैं, किन्तु ऐसे लोग बहुत कम होते हैं।

यह कहना ही होगा कि कामावेगका संपूर्ण नाश करना साधनाके अत्यंत कठिन कार्योंमेंसे है और इस कार्यमें जो समय लगता है उसके लिये साधकको तैयार ही रहना चाहिये। किन्तु काम-वासनाका पूर्ण तिरोभाव सिद्ध किया जा चुका है और ऐसे तो बहुत हैं जिन्होंने क्रियात्मक रूपमें इससे छुटकारा पा लिया है, केवल कभी-कभी अवचेतनासे स्वप्नावस्थामें आ जानेवाली चेष्टाओंसे ही उनकी इस अवस्थामें भंग पड़ता है।

*

*   *

कामावेगको तुम कोई ऐसी वस्तु मत समझो जो पापमय और भयंकर है और जो साथ-ही-साथ आकर्षक भी है, बल्कि इसे निम्न प्रकृतिकी एक गलती और भ्रान्त गति समझो। इसका पूर्ण त्याग करो परन्तु वह इससे संघर्ष करके नहीं, बल्कि इससे अपना संबंध विच्छेद करके, अपने-आपको इससे अनासक्त रखके और अपनी स्वीकृति देनेसे इनकार

करके; इसको कोई अपनी निजी वस्तु मत समझो, बल्कि यह समझो कि तुमसे बाहर रहनेवाली प्रकृतिकी एक शक्तिद्वारा तुमपर लादी हुई यह एक चीज है। यह जो तुमपर लादा जाता है इसको किसी प्रकारकी भी स्वीकृति देनेसे इनकार करो। यदि तुम्हारे प्राणका कोई अंश ऐसा हो जो इसको स्वीकृति देता हो तो अपने उस भागपर जोर डालो कि वह उस स्वीकृतिको वापस लौटा ले। **भागवत शक्तिका** आवाहन करो कि वे तुम्हारी इस काममें सहायता करें जिससे कि तुम इससे संबंध-विच्छेद कर सको और इसको अस्वीकार कर सको। यदि तुम शान्ति, दृढ़ता और धैर्यपूर्वक ऐसा कर सको तो अंतमें बाह्य प्रकृतिकी इस आदतके ऊपर तुम्हारे अन्तःसंकल्पकी विजय होगी।

*

*   *

इतने अधिक उदास हो जाने अथवा योगमें विफलता होगी ऐसी कल्पनाएं करनेका कोई कारण नहीं है। यह इस बातका चिह्न बिलकुल नहीं

है कि तुम योगके अयोग्य हो । इसका तो केवल यही अर्थ है कि सचेतन भागोंसे तजे जाकर कामावेगने अवचेतनाका आश्रय लिया है, संभवतः कहीं निम्नतर प्राण-भौतिक और सर्वथा स्थूल-भौतिक चेतनामें आश्रय लिया है जहां कि कुछ स्थान ऐसे हैं जो अभी अभीप्सा और ज्योतिके लिये खुले नहीं हैं । जागृत चेतनामेंसे जो चीजें निकाल बाहर कर दी जाती हैं वे निद्राकी अवस्थामें हठात् बार-बार आती हैं—यह साधन-कालमें होनेवाली एक मामूली बात है ।

इसका इलाज है—(१) उच्चतर चेतनाको प्राप्त करना, उसकी ज्योति और उसकी शक्तिकी क्रियाको प्रकृतिके अंधकारमय भागोंमें उतारकर लाना ; (२) निद्राके समय उत्तरोत्तर अधिक सचेतन होना, उस आन्तरिक चेतनासे युक्त रहना जो कि, जैसे जागृत अवस्थामें साधनाकी क्रियासे परिचित रहती है उसी प्रकार निद्रावस्थामें भी रहती है ; (३) शरीरपर जागृत संकल्प और अभीप्साका प्रभाव डालना ।

इस प्रभावको डालनेके लिये एक उपाय यह है कि, सोनेसे पहले जोर देकर और सचेतन होकर

शरीरको यह उद्बोधन देना कि ऐसा न होने पावे; यह उद्बोधन जितना ही ठोस और भौतिक हो सकेगा और वह भी जितना ही सीधे काम-केन्द्रपर लक्षित किया जा सकेगा उतना ही अच्छा होगा। हो सकता है प्रारंभमें इसका असर तुरत न हो अथवा सदा एक जैसा न हो, किन्तु इस प्रकारका उद्बोधन, यदि तुम यह जानते हो कि इसे कैसे करना है तो अंतमें अवश्य ही सफल सिद्ध होगा। इससे इतना तो होगा ही कि जब कभी वह स्वप्नको न भी रोक सकेगा तब भी ठीक समयपर अंत:चेतनाको इस प्रकार जागृत कर देगा जिससे विपरीत परिणाम रुक जाय।

चाहे बारंबार विफलता हो तो भी साधना करते हुए अपने-आपको उदास होने देना भूल है। साधकको तो स्थिर, अपनी लगनमें लगा हुआ और प्रतिरोधके हठसे भी अधिक हठी होना चाहिये।

*

*   *

यदि तुम इससे छुटकारा पानेकी सच्ची अभिलाषा रखते हो तो यह अवश्यंभावी है कि कामावेगका यह कष्ट दूर हो जाय। परन्तु कठिनाई यह है कि तुम्हारी प्रकृतिका एक भाग (विशेषतः निम्नतर प्राण और अवचेतना जो निद्रावस्थामें क्रियाशील रहते हैं) इन प्रवृत्तियोंकी स्मृति रखता है और इनसे आसक्त रहता है, और तुम इन भागोंको खोलते नहीं और इनकी शुद्धिके निमित्त आती हुई **माता**की **ज्योति** और **शक्ति**को इनसे स्वीकार नहीं करा पाते। यदि तुम ऐसा किये होते और विलाप करने, परेशान होने तथा "मैं इनसे छुटकारा नहीं पा सकता" ऐसे विचारसे चिपके रहनेके स्थानपर इनके लोप हो जानेके लिये एक स्थिर श्रद्धा और धीर संकल्पके साथ शान्त आग्रह किये होते, अपने-आपको इनसे अलग रखते हुए इनको स्वीकार करने या इन्हें जरा भी अपना कोई भाग समझनेसे इनकार किये होते तो कुछ समयके बाद इनका बल क्षीण हो गया होता और ये बहुत कुछ कम हो गये होते।

*

*   *

काम-वासनासे सताये जानेका प्रश्न तभीतक गंभीर रहता है जबतक मन और प्राणकी इच्छा इसको स्वीकृति देती रहती है। यदि मनसे इसको हटा दो, अर्थात् यदि मन तो इसे अपनी स्वीकृति देनेसे इनकार कर दे, किन्तु प्राण-भाग इसके साथ संबंध बनाये रखे तो यह काम-वासना प्राणमय इच्छाकी जोरदार लहरके रूपमें आती है और मनको भी बलपूर्वक अपने साथ बहा ले जानेकी चेष्टा करती है। यदि इसको उच्चतर प्राणसे भी हटा दें तथा हृदय और गतिशील एवं धारण करनेवाली जीवन-शक्तिमेंसे भी निकाल बाहर करें तो यह निम्नतर प्राणका आश्रय ग्रहण करती है और छोटी-छोटी उकसावटों और दुराग्रहोंके रूपमें प्रकट होती है। निम्नतर प्राणके स्तरसे भी निकाल दिये जानेपर, यह शरीरके अंधकारमय जड़वत् पुनरावर्त्तनकारी भागमें घुस जाती है और वहांसे काम-केन्द्रमें संवेदनके रूपमें प्रकट होती और वहांसे होनेवाली उकसावटोंका यंत्रवत् उत्तर देती रहती है। अंतमें यहांसे भी भगा दिये जानेपर यह और नीचे अर्थात्

अवचेतनामें घुस जाती है और वहां स्वप्नके रूपमें तथा स्वप्नदोषके (जो कभी स्वप्नके बिना भी होता है) रूपमें प्रकट होती है। किन्तु जहां कहीं भी यह पीछे हटकर जाती है, कुछ समयतक उसी भूमिका अथवा आश्रयसे साधकको सताने और उसके उच्चतर भागोंकी स्वीकृतिको पुनः अधिगत कर लेनेकी चेष्टासे बाज नहीं आती। इसकी यह चेष्टा उस समयतक होती रहती है जबतक कि इसपर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त हो जाती और यह आसपासकी या पारिपार्श्विक चेतनासे भी, जो कि सर्वसाधारण प्रकृति या विश्व-प्रकृतिमें हमारा विस्तृत रूप है, निकाल बाहर नहीं कर दी जाती।

*

*   *

जब हृत्पुरुष प्राणपर अपना प्रभाव डालता है, तब सबसे पहले जिस बातसे बचनेके लिये तुमको सावधान रहना चाहिये वह यह है कि इस हृत्पुरुषकी गतिमें प्राणकी कोई अशुद्ध गति जरा भी न मिलने

पावे। कामुकता एक विकार अथवा अधोगति है जो प्रेमके आधिपत्यकी स्थापनामें रुकावट डालती है; अतएव जब हृदयमें हृत्पुरुषके (आत्मिक) प्रेमकी गति होने लगती है उस समय कामुकता अथवा प्राणगत इच्छा एक ऐसी चीज है जिसको अंदर नहीं घुसने देना चाहिये—ठीक उसी तरह जैसे कि जब ऊपरसे शक्तिका अवतरण होता है तब व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और अभिमानको दूर रखना चाहिये; कारण उस शुद्ध प्रेममें यदि यह विकृति जरा भी मिल जायगी तो आध्यात्मिक अथवा हृत्पुरुषकी क्रियाको दूषित कर देगी और एक सच्ची कार्यपूर्त्तिमें बाधा डाल देगी।

*

*   *

प्राणायामसे तथा आसन जैसी हठयोगकी अन्यान्य क्रियाओंसे काम-वासना अवश्य निर्मूल हो जाती हो यह बात नहीं है—कभी-कभी तो उपरोक्त क्रियाओंके कारण शरीरमें प्राण-शक्तिके अत्यंत बढ़ जानेसे ये काम-प्रवृत्तिके बलको भी आश्चर्यकारी ढंगसे बढ़ा देती हैं, जब कि इस काम-प्रवृत्तिपर, इसके शारीरिक

जीवनके आधारभूत होनेके कारण, विजय प्राप्त करना वैसे ही कठिन है। अतएव जो कुछ करना होगा वह यह कि इन गतियोंसे अपने-आपको पृथक् रखना, अपने आंतरिक आत्माका पता लगाना और उसीमें रहना; तब ये गतियां कभी भी अपने-आपसे संबंध रखनेवाली नहीं मालूम होंगी बल्कि यह मालूम होगा कि बाह्य **प्रकृति**ने इनको आंतरिक आत्मा अथवा **पुरुष**पर ऊपरसे लाद दिया है। तब इनका निराकरण अथवा सर्वनाश कर देना अधिक आसान हो जायगा।

*

*   *

कामका इस प्रकारका आक्रमण जो निद्रावस्थामें होता है वह आहार या किसी भी बाहरी चीजपर बहुत अधिक निर्भर नहीं करता। यह तो अवचेतनाका एक यंत्रवत् अभ्यास है। जब जागृत अवस्थामें होनेवाले विचारों और भावनाओंमेंसे कामावेगको निकाल बाहर किया जाता है या इसको इनमें आने नहीं दिया जाता तब यह निद्रावस्थामें

इस रूपसे आता है, कारण उस समय केवल अवचेतना ही क्रियाशील रहती है और अन्य किसी भी प्रकारका सचेतन नियंत्रण नहीं रहता। यह इस बातका चिह्न है कि जागृत मन और प्राणमें तो काम-वासनाका निग्रह किया जा चुका है, किन्तु भौतिक प्रकृतिमेंसे इसे अभी निकाल बाहर नहीं किया गया है।

इसे सर्वथा दूर कर देनेके लिये पहले तो साधकको इस बातसे सतर्क रहना चाहिये कि जागृत अवस्थामें काम-वासनाका किसी भी प्रकारका विचार अथवा भाव उसमें आश्रय न पा सके, इसके बाद शरीर और विशेषतः काम-केन्द्रपर एक प्रबल संकल्प करना चाहिये कि निद्रावस्थामें इस प्रकारका कुछ भी नहीं होने पावे। हो सकता है कि इसमें तुरत सफलता न मिले, किन्तु यदि एक दीर्घकालतक कोई इसमें लगा रहेगा तो प्रायः इसका फल होता है और अवचेतना आज्ञा मानना आरंभ कर देती है।

*

* *

शरीरपर आघात करना कामावेगको दूर करनेका कोई इलाज नहीं है, हो सकता है कि इससे कभी कुछ अस्थायी अलगाव हो जाय। कारण प्राणको, अधिकांशमें प्राणमय शरीरको ही इस इन्द्रियानुभूतिसे प्रसन्नता या अप्रसन्नता होती है।

आहारके कम कर देनेसे प्रायः स्थायी लाभ नहीं होता। इससे शारीरिक अथवा प्राणमय-शारीरिक शुद्धिकी अधिक मात्रामें प्रतीति हो सकती है, शरीर हलका हो सकता है और किन्हीं विशेष प्रकारके "तमस्" का ह्रास हो सकता है। परन्तु कामावेग इस अल्पाहारकी अवस्थाको भी अपने अनुकूल बनाकर, वहां अच्छी तरह बना रह सकता है। इन बातोंपर किसी शारीरिक साधनके द्वारा विजय नहीं प्राप्त की जा सकती, यह विजय तो चेतनामें परिवर्त्तन लानेसे ही होगी।

*

* *

तुम्हारी प्रकृतिके इस आदिम स्वभावसे छुटकारा पानेकी तुम्हारी कठिनाई तबतक बनी ही रहेगी जबतक तुम अपने प्राणमय भागको, केवल या प्रधानतया, अपने ही मन अथवा मानसिक संकल्पके बलद्वारा, या अधिक-से-अधिक किसी अनिर्दिष्ट और निर्व्यक्तिक भागवत शक्तिको अपनी सहायताके लिये आवाहन करने द्वारा भी, परिवर्तित करनेकी चेष्टा करते रहोगे। यह एक प्राचीन समस्या है जिसका मूलतः हल जीवनमें कभी हुआ ही नहीं, कारण कभी भी इसका उचित रीतिसे सामना नहीं किया गया। बहुतसे योगोंमें तो इसलिये यह प्रधान रूपसे बाधक नहीं माना जाता कि उनका ध्येय इस जीवनका रूपांतर करना नहीं बल्कि जीवनसे अलग हो जाना है। किसी साधनाका उद्देश्य जब इस तरहका अर्थात् जीवनसे अलग हो जाना होता है, तब तो इतना ही पर्याप्त हो सकता है कि मानसिक और नैतिक दबाव डालकर प्राणको दबा दिया जाय अथवा उसे निस्तब्ध करके एक प्रकारकी निद्रा और विश्रामावस्थामें रख दिया

जाय । कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इसे विषयोंमें दौड़ने देते हैं जिससे कि यह दौड़-दौड़-कर थककर बेदम हो जाय और वे इस बातका दावा रखते हैं कि इस क्रियासे वे स्वयं निर्लेप और बेलाग रहते हैं; कारण वे मानते हैं कि यह केवल उस पुरातन प्रकृतिका कार्य है जो पहलेके प्रारब्ध-चक्रके बलपर चलती चली जा रही है और शरीरके पतनके साथ ही इसका भी खातमा हो जायगा । जब साधक अपनी समस्याको इनमेंसे किसी तरीकेसे हल नहीं कर पाता तब वह कभी-कभी द्विविध आंतरिक जीवन बिताने लगता है जो उसकी आध्यात्मिक अनुभूति और उसकी प्राणमय दुर्बलता, इन दो भागोंमें अंततक बँटा रहता है, वह अपने उत्तम भागका अधिकाधिक लाभ उठाता है और इस बाह्य सत्ताका जहांतक हो सके कम-से-कम प्रयोग करता है । किन्तु हम लोगोंके उद्देश्यके लिये इनमेंसे कोई भी पद्धति कामकी नहीं है । यदि तुम प्राणमय गतियोंपर वास्तविक प्रभुत्व पाना चाहते हो और उनका रूपांतर करना चाहते हो तो वह केवल

उसी अवस्थामें हो सकता है कि तुम हृत्पुरुषको, अपने अन्तरात्माको पूर्ण रूपसे जागरित होने दो, उसे अपनी हुकूमत स्थापित करने दो और सभी चीजोंको **भागवत शक्तिके** स्थायी स्पर्शके लिये खोलते हुए उसकी (हृत्पुरुषकी) भागवत वस्तुमात्रके लिये जो अपनी विशुद्ध भक्ति, अनन्य अभीप्सा तथा पूर्ण एकनिष्ठ अनुरोध करनेकी पद्धति है उसे मन और हृदय और प्राण-प्रकृतिपर स्थापित होने दो। दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं, अतएव अधिक सुगम मार्गकी खोजमें भटकना निरर्थक है। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

भौतिक चेतना

अवचेतना

निद्रा और स्वप्न

रोग

हमारा उद्देश्य विज्ञानमय सिद्धिको प्राप्त करना है, अतः इसको प्राप्त करनेके लिये अथवा इसकी ओर पहुंचनेके लिये प्रत्येक भूमिकाओंकी विभिन्न अवस्थाओंमें जो कुछ भी आवश्यक है, उसे हमें करना है। इस समयकी आवश्यकता है भौतिक चेतनाको तैयार करना; इसके लिये जो वस्तु चाहिये वह है पूर्ण समता, शान्ति और व्यक्तिगत मांग या कामनासे रहित पूर्ण आत्मोत्सर्गकी शरीर तथा निम्नतर प्राण-भागोंमें स्थापना करना। अन्य चीजें अपने उचित समयपर आप ही आती रहेंगी। जो इस समय आवश्यक है वह है भौतिक चेतनामें हृत्पुरुषका आत्मोद्घाटन और वहां उसका सतत विद्यमान रहना तथा पथ-प्रदर्शन करना।

*

* *

जिस चेतनाका तुम वर्णन कर रहे हो वह जड़-प्राकृतिक चेतना है; अधिकांशमें तो यह अवचेतन

ही है, किन्तु इसका जो भाग सचेतन है वह यंत्रवत् है, अभ्यासके वश अथवा निम्न-प्रकृतिकी शक्तियोंके वश जड़ वस्तुकी तरह चलता रहता है। सदा एक ही प्रकारकी निर्बोध और प्रकाशरहित गतियोंको किया करता है, जो कुछ अभीतक विद्यमान है उसीके स्थापित नियमों अथवा नित्यचर्यामें बंधा रहता है, न तो यह परिवर्तन चाहता है न **ज्योतिको** ग्रहण करना या उच्च **शक्तिकी** आज्ञा मानना। यदि यह चाहता भी है तो ऐसा करनेमें असमर्थ होता है। और यदि यह समर्थ हो भी जाता है तो भी इसे **ज्योति** या **शक्तिद्वारा** जो क्रिया दी जाती है उसे यह एक नये ही यंत्रवत् नित्य नियममें ढाल देता है और इस प्रकार उसके आत्मा और प्राणको उसमेंसे निकाल डालता है। यह ज्ञानशून्य है, निर्बोध है, सुस्त है, तमस्के अज्ञान और जड़तासे, अंधकार और मंदतासे भरा हुआ है।

इसी जड़-प्राकृतिक चेतना में पहले हम उच्चतर (दिव्य या आध्यात्मिक) **ज्योति** और **शक्ति** तथा **आनंदको** उतारना चाहते हैं; और जब यह हो

जाय तब उस **विज्ञानमय सत्यको**—जो हमारे योगका लक्ष्य है—उतारना चाहते हैं।

*

* *

जिस चेतनासे तुम अवगत हुए हो वह नितान्त भौतिक चेतना है ; यह चेतना प्रायः सभी किसीमें इसी तरह है: जब कोई इसमें पूर्ण रूप से या अनन्य रूपसे प्रवेश करता है तब उसको यह अनुभव होता है कि यह पशु-चेतनाकी भांति है, या तो अंधकारमय और चंचल है या जड़ और निर्बोध है और इन दोनोंमेंसे किसी भी अवस्थामें यह भगवान्‌के प्रति उन्मुख नहीं है। **शक्ति** और उच्चतर चेतनाको इसके अंदर उतारकर लानेसे ही यह हो सकता है कि यह चेतना जड़मूलसे परिवर्तित की जा सके। ये चीजें जब आन प्रकट होती हैं तब उनके आनेसे विचलित मत होओ, बल्कि यह समझो कि ये इसलिये आयी हैं कि जिससे इनका भी परिवर्तन किया जा सके।

अन्य प्रसंगोंकी तरह यहां भी अचंचलताकी ही सबसे पहले आवश्यकता होती है, चेतनाको

अचंचल रखना होता है, उसे क्षुब्ध और विकल नहीं होने दिया जाता। इसके बाद इस अचंचल स्थितिमें शक्तिका आवाहन करना होता है जिसमें वह इस समस्त अंधकारको दूर कर दे और इसका परिवर्तन कर दे।

*

*   *

"बाह्य ध्वनियोंकी और शरीरके बाह्य भागके संवेदनोंकी दयापर होना," "जब चाहें तभी साधारण चेतनाको छोड़ सकनेके सामर्थ्यका न होना," "सत्ताकी समस्त प्रवृत्तिका ही योगके विपरीत होना"—ये सब बातें निस्सन्दिग्ध रूपसे भौतिक मन और भौतिक चेतनापर ही लागू होती हैं, जब कि ये मानो अपने-आपको अन्य चेतनाओंसे पृथक् कर लेते हैं और अन्य सब कुछको पीछे फेंककर सत्ताके समूचे अग्रिम भागको घेर लेते हैं। जब सत्ताके किसी भागको परिवर्तित किये जानेके लिये सामने लाया जाता है तब उस भागका इस तरहसे सर्वग्रासी रूपमें उभड़ आना, उसकी क्रियाका इतने प्रधान रूपमें होने लगना मानो

उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, यह तो बहुधा होता ही है ; और दुर्भाग्यवश सदा यही होता है कि जिस भागको परिवर्तित करना है, जो अवांछनीय अवस्थाएं हैं, जो उस भागकी कठिनाइयां हैं, वे ही सबसे पहले उभड़ती हैं और उस क्षेत्रपर हठपूर्वक अधिकार जमा लेती हैं और बारंबार आकर सताती हैं। भौतिक सत्तामें ये हैं जड़ता, अंधकार और असमर्थता जो कि उभड़ती हैं और है इन सबका हठीलापन। इस अप्रिय दशामें साधकको एकमात्र यही करना चाहिये कि वह इस भौतिक तमस्की अपेक्षा और भी अधिक हठी बन जाय और अपने एक निश्चित प्रयासमें लगातार लगा रहे—धीरताके साथ किसी भी प्रकारके आकुलतापूर्ण संघर्षके बिना लगा रहे—जिससे कि इस बाधाकी ठोस चट्टानमें भी वह एक विस्तीर्ण और स्थायी उद्घाटन करा डाले।

*

* *

चेतनाका दिनमें कई बार हेर-फेर होते रहना यह तो एक आम बात है, साधनामें ऐसा प्रायः सभीको होता है। साधककी वह उच्चतर अवस्था, जिसका उसने केवल अनुभव किया है पर जो अभी उपलब्धिके रूपमें स्थापित नहीं हुई अथवा यदि उपलब्ध भी हो चुकी है तो अभीतक पूर्ण रूपसे स्थायी नहीं हुई, उस अवस्थासे साधारण अवस्थामें या पूर्वकी निम्नतर अवस्थामें पुनः पतन, शिथिल होकर लौट आना और चेतनाकी इन दोनों अवस्थाओंमें आते-जाते रहनेका सिद्धांत उस समय और भी अधिक प्रबल रूपसे और स्पष्ट रूपसे दिखायी देने लगता है जब साधनाकी क्रिया भौतिक चेतनामें चल रही हो। कारण भौतिक प्रकृतिमें जो एक तामसिकता है वह उस प्रगाढ़ताको, जो उच्चतर चेतनाके लिये स्वाभाविक है, सहजमें ही स्थिर नहीं बनी रहने देती। शरीर सदा ही साधारणतर स्थितिकी ओर वापस लौटना चाहता है; इसलिये उच्चतर चेतना और उसकी शक्तिको एक दीर्घ कालतक काम करना पड़ता है और

बारंबार आना पड़ता है, तब जाकर कहीं वे भौतिक प्रकृतिमें स्थायी और स्वाभाविक हो पाती हैं। इस बार-बार के आने-जाने या विलम्बसे विचलित या हतोत्साह मत होओ चाहे वह कितना ही लंबा और थका देनेवाला क्यों न हो; केवल इस बातके लिये सावधान रहो कि तुम आंतरिक अचंचलताके द्वारा बराबर शान्त बने रह सको और उच्चतर **शक्तिके** प्रति जितना संभव हो उतना उद्घाटित होकर रह सको जिससे कोई वास्तविक विरोधी अवस्था तुम्हारे ऊपर अधिकार न कर सके। यदि विरोधी लहरें आनी बंद हो जायं तो बाकी जो कुछ रह जायगा वह तो उन अपूर्णताओंका हठमात्र ही होगा जो अपूर्णताएं प्रायः सभीमें बहुतायतसे हैं, इस अपूर्णता और उसके हठको **शक्ति** ठीक करके दूर कर देगी, पर इस काममें समय लगेगा ही।

*

*   *

निम्न प्राण-प्रकृतिकी गतियोंके हठसे, वह चाहे जितना भी हो, तुम्हें अपने-आपको निरुत्साहित नहीं होने देना चाहिये। ये गतियां कुछ तो ऐसी होती हैं कि जबतक नितान्त जड़-चेतनाके भी रूपान्तर-द्वारा समग्र भौतिक प्रकृतिका परिवर्तन नहीं हो लेता उस समयतक बराबर होती रहती हैं और हठ किया करती हैं। उपर्युक्त रूपान्तरके होनेतक इनका यांत्रिक अभ्यासवश बारंबार दबाव—कभी उनकी नयी शक्तिसे युक्त होकर और कभी सुस्तीके साथ—पड़ता रहता है। इन्हें किसी भी प्रकारकी मानसिक या प्राणमय अनुमति देनेसे इनकार करनेके द्वारा इनकी जीवन-शक्तिको ही निकाल डालो। ऐसा करनेसे यह यांत्रिक अभ्यास शक्तिशून्य हो जायगा और विचार या क्रियाओंपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा तथा अंतमें विलीन हो जायगा।

*

*   *

भौतिक चेतना

मूलाधार चक्र खास भौतिक चेतनाका केन्द्र है, इससे नीचे शरीरमें जो कुछ है वह केवल भौतिक है, जिसमें वह जैसे-जैसे नीचे उतरती जाती है वैसे-वैसे अधिकाधिक अवचेतना बनती जाती है, पर अवचेतनाका वास्तविक स्थान शरीरके नीचे है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि उच्चतर चेतना (अति-चेतना) का स्थान शरीरके ऊपर है। यह होते हुए भी अवचेतनाका अनुभव किसी भी स्थानमें हो सकता है, ऐसा अनुभव होता है जैसे कि यह कोई ऐसी चीज हो जो चेतनाकी गतिके नीचे हो और उस चेतनाको या तो एक प्रकारसे नीचेसे सहारा देती हो या अपनी ओर नीचे खींच रही हो। समस्त अभ्यासगत गतियोंका, विशेषतः भौतिक और निम्नतर प्राणकी गतियोंका यह अवचेतना ही प्रधान अवलम्ब है। जब प्राण या शरीरमेंसे कोई चीज निकाल बाहर की जाती है तब वह बहुत करके अवचेतनामें नीचे चली जाती है और वहां मानो बीजरूपमें पड़ी रहती है और जब कभी उसे मौका मिलता है वह ऊपरको उठ आती है। यही कारण है जिससे

प्राणोंकी अभ्यासगत गतियोंको दूर करना या अपने चरित्रको बदल देना इतना कठिन हो जाता है। क्योंकि इस स्रोतसे पोषण पाकर या पुनरुज्जीवित होकर, इस गर्भाशयमें सुरक्षित रहकर तुम्हारी ये प्राणमय गतियां, चाहे उनका निग्रह या दमन कर दिया गया हो तो भी ऊपरको उठ आती हैं और आक्रमण करती हैं। अवचेतनाकी क्रिया युक्तिरहित, यंत्रवत् और बारंबार होते रहनेवाली होती है। यह तर्क अथवा मानसिक संकल्पको नहीं सुनती। इसका परिवर्तन एकमात्र उच्चतर ज्योति और शक्तिको इसमें उतारकर लानेसे ही हो सकता है।

*

* *

प्रकृतिके अन्य सब प्रधान भागोंकी तरह अवचेतना भी जहां व्यष्टिगत है वहां समष्टिगत भी है। किन्तु इस अवचेतनाके विभिन्न भाग या तल होते हैं। इस पृथ्वीपर जो कुछ है वह उस तत्त्वपर आश्रित है जो अचेतनाके नामसे पुकारा जाता है, यद्यपि यथार्थमें

यह अचेतना है ही नहीं, बल्कि यह तो एक पूर्ण "अव"–चेतना है, एक ऐसी दबी हुई अथवा अन्तर्निहित चेतना है जिसके अंदर सब कुछ होते हुए भी अभी कुछ भी मूर्त्त या व्यक्त नहीं हुआ है। इस अचेतना तथा मन, प्राण और शरीरकी चेतना इन दोनोंके बीचमें अवचेतनाका स्थान है। जीवनमें जो कुछ आदि-कालसे चली आती हुई प्रतिक्रियाएं होती हैं, जो जड़-प्रकृतिके सुप्त और गतिविहीन तहोंमेंसे संघर्ष करती हुई ऊपरी तलमें उठती हैं और सतत क्रमोन्नति करती हुई एक मंद विकासात्मक और आत्म-अभिव्यक्तिकारक चेतनाका रूप ग्रहण करती हैं, वे इस अवचेतनामें संभावित अवस्थामें रहती हैं। अवचेतनाके अंदर ये प्रतिक्रियाएं किन्हीं विचारों, इन्द्रियानुभवों या सचेतन प्रतिक्रियाओंके रूपमें नहीं किन्तु इन वस्तुओंकी तरल अवस्थाओंके रूपमें रहती हैं। परन्तु, इसके अतिरिक्त वह सब भी जो सचेतन रूपसे अनुभव किया जाता है अवचेतनामें ही पैठ जाता है, ठीक-ठीक यद्यपि डूबी हुई स्मृतिके तौरपर नहीं, किन्तु धुंधले तथापि हठीले संस्कारके

तौरपर, और ये स्वप्नोंके रूपमें, अतीत विचारों, भावों और क्रियाओं आदिके यांत्रिक पुनरावर्त्तनके रूपमें और किसी कर्म तथा घटनामें फट पड़नेकी "संमिश्र क्रियाओं" आदि-आदिके रूपमें किसी भी समय ऊपर उठ आ सकते हैं। क्यों ये सब चीजें आप-ही-आप बारंबार हुआ करती हैं और क्यों कोई भी वस्तु, सिवाय अपने बाह्य रूपके वास्तवमें कभी भी परिवर्तित नहीं होती, इसका प्रधान कारण अवचेतना ही है। यही कारण है जिससे लोग कहा करते हैं कि स्वभाव नहीं बदला जा सकता, और हम जो देखते हैं कि वे चीजें जिनके बारेमें हम यह समझते हैं कि हम सदाके लिये उनसे मुक्त हो चुके वे भी जो बारंबार वापस आती हैं उसका कारण भी यही है। यहां ही सब कुछ बीजरूपसे तथा मन, प्राण और शरीरके संस्काररूपसे विद्यमान रहता है—मृत्यु और रोगका यही प्रधान अवलम्ब है और अज्ञान-तत्त्वका यही अंतिम किला (जो देखनेमें अभेद्य मालूम पड़ता है) है। वे सब चीजें भी जिनसे पूर्ण छुटकारा नहीं मिला है पर केवल निग्रहद्वारा

दबा दी गयी हैं, यहीं आकर छिप जाती हैं और उस बीजके रूपमें पड़ी रहती हैं जो किसी भी समय अंकुरित अथवा प्रस्फुटित होनेके लिये तैयार है।

*

* *

हमारे अंदर जो विकासात्मक भाव है उसका आधार यह अवचेतना है, पर न तो हमारी समग्र गुप्त प्रकृति ही इसमें आ जाती है और न हम जो कुछ हैं उसका यह समग्र आदि कारण ही है। किन्तु चीजें इस अवचेतनासे ऊपर उठ सकती हैं और सचेतन भागोंमें आकर आकृतिको प्राप्त हो सकती हैं तथा हमारे प्राण और शरीरकी जो मामूली स्वतःस्फूर्तियां, गतियां, अभ्यास और चरित्रगठन हैं, बहुत करके उनका स्रोत यही होता है।

हम जो कर्म करते हैं उनके तीन गुह्य जन्म-स्थान हैं—अतिचेतना, अन्तस्तलकी चेतना और अवचेतना, किन्तु इनमेंसे किसीपर भी हमारा नियंत्रण नहीं है बल्कि इन्हें हम जानतेतक नहीं हैं। जिसे हम

जानते हैं वह हमारी ऊपरी तलकी सत्ता है जो केवल उपकरणके तौरपर काम आनेवाली एक व्यवस्था है। इन सबका जन्मस्थान साधारण प्रकृति है अर्थात् वह विश्व-प्रकृति है जो अपने-आपको प्रत्येक व्यक्तिके अंदर जिस-तिसके पृथक् व्यक्तित्वमें परिणत करती है। क्योंकि यह साधारण प्रकृति ही गतियों, व्यक्तित्व, चरित्र, वृत्ति, स्वभाव और प्रवृत्तिके विशिष्ट प्रकारके अभ्यासोंको हमारे अंदर रखती है और इसीको, चाहे वह इस जन्ममें बना हो या इस जन्मसे पहले, हम लोग "हम" शब्दसे पुकारते हैं। इसका एक बहुत बड़ा भाग हमारे ऊपरी तलके ज्ञात सचेतन भागोंमें, अभ्यासगत गतियोंमें रहता और काममें आता है, पर इससे भी कहीं अधिक बड़ा भाग वह है जो अन्य तीन अज्ञात भागोंमें जो इस ऊपरी तलके या तो नीचे हैं या पीछे, छिपा रहता है।

परन्तु ऊपरी तलपर जो कुछ भी हमारी अवस्था है वह बराबर साधारण प्रकृतिकी उन लहरोंसे आन्दोलित, परिवर्तित, परिवर्धित या पुनः-पुनः घटित होती रहती है जो या तो प्रत्यक्ष रूपमें या फिर

अप्रत्यक्ष रूपमें दूसरोंके द्वारा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों-के द्वारा और नाना प्रकारके जरियों या मार्गोंके द्वारा हममें आती हैं। इन लहरोंका कुछ प्रवाह तो सीधा सचेतन भागोंमें चला जाता है और वहां कार्य करता है, किन्तु हमारा मन इसके स्रोतको जाननेकी परवाह नहीं करता, इसको अपने अधिकारमें ले लेता है और इस सबको अपना ही समझने लगता है। इसका कुछ अंश गुप्त रूपसे अवचेतनामें चला आता है या उसमें पैठ जाता है और चेतनाके ऊपरी तलपर कभी भी उठ आनेके लिये उपयुक्त कालकी प्रतीक्षा करता है; इसका एक बहुत बड़ा भाग अन्तस्तलकी चेतनामें चला जाता है और वह किसी भी समय बाहर आ सकता है---अथवा यदि वह बाहर न भी आवे तो वहींपर अव्यवहृत सामग्रीकी तरह पड़ा रहता है। इसका कुछ भाग आर-पार हो जाता है और वह या तो त्याग दिया जाता, वापस या बाहर फेंक दिया जाता या विश्व-समुद्रमें गिरा दिया जाता है। हमारा स्वभाव, जो शक्तियां हमें दी गयी हैं उनकी एक

सतत क्रियामात्र हैं जिसमेंसे (बल्कि जिसके एक छोटे भागमेंसे) हम अपनी इच्छा या शक्तिके अनुसार कुछ रचना करते हैं। हम जो कुछ रचते हैं, वह ऐसा मालूम पड़ता है मानो सदाके लिये स्थिर और रचनाबद्ध हो गया, किन्तु वास्तवमें वह सब शक्तियोंका एक खेल है, एक प्रवाह मात्र है, न कुछ स्थिर है न दृढ़; यह जो आकार या स्थिरता है वह तो एक ही प्रकारके कंपनों और आकृतियोंके लगातार दोहराये जाने और प्रतिक्षण हो रहे पुनरावर्तनके कारण दिखायी देते हैं। यही कारण है कि विवेकानन्दकी उक्ति और होर्सके वाक्योंके होते हुए भी तथा अवचेतनाके अनुदार प्रतिरोधके रहते हुए भी हम लोगोंके स्वभावका परिवर्तन हो सकता है, पर यह एक कठिन काम है, कारण प्रकृतिका उस्तादी ढंग यही है अर्थात् इस प्रकार हठपूर्वक दोहराते जाना और सतत पुनरावर्तन करते रहना।

अब रहा हम लोगोंकी प्रकृतिकी उन चीजोंके संबंधमें जिन्हें हम त्याग कर फेंक तो देते हैं पर ये फिर वापस आ जाती हैं, सो यह इस बातपर

निर्भर करता है कि तुम इनको कहां फेंकते हो। इसके बारेमें बहुधा एक प्रकारकी प्रक्रिया चलती है। मन अपनी मानसिक रचनाओंका त्याग करता है, प्राण अपने प्राणावेगोंका, शरीर अपनी आदतोंका— ये चीजें साधारणतया विश्वप्रकृतिके तत्तत् क्षेत्रोंमें वापस चली जाती हैं। जब ऐसा होता है, तब पहले तो ये सब उस पारिपार्श्विक चेतनामें ठहरती हैं जिसको हम साथ लिये फिरते हैं तथा जिसके द्वारा हम बाह्य प्रकृतिसे आदान-प्रदान करते हैं, और बहुधा ये वहांसे लगातार वापस लौट आया करती हैं—यह तबतक होता रहता है जबतक इनका इस प्रकार पूर्ण रूपसे त्याग नहीं कर दिया जाता अथवा यों कहें कि इन्हें इतनी अधिक दूर नहीं फेंक दिया जाता कि ये फिर कभी हमपर लौटकर न आ सकें। किन्तु विचारशील और संकल्पशील मनके किसी चीजका त्याग कर देनेपर भी जब प्राण उसको प्रबलतासे पोषण देता रहता है, तब यह अवश्य ही मनको तो छोड़ देती है किन्तु प्राणमें जाकर पैठ जाती है और वहां गर्जन-तर्जन करती है तथा पुनः ऊपर उठ आने और

मनपर फिर अधिकार जमाने और हमारी मानसिक स्वीकृतिको बाध्य करने अथवा उसपर कब्जा कर लेनेका यत्न करती रहती है। जब उच्चतर प्राण भी अर्थात् हृदय अथवा बृहत्तर प्राणशक्ति भी इसको त्याग देती है तब वहांसे यह नीचे उतर आती है और निम्नतर प्राणमें आश्रय ग्रहण करती है, उस निम्नतर प्राणमें जिसकी छोटी-छोटी मामूली गतियोंसे हमारा यह नित्यका क्षुद्र जीवन बनता है। जब निम्नतर प्राण भी इसका त्याग कर देता है तब यह भौतिक चेतनामें घुस जाती है और जड़ताके अथवा यंत्रवत् पुनरावर्तित होते रहनेके रूपमें वहां बनी रहनेकी चेष्टा करती है। वहांसे भी त्याग दिये जानेपर, यह अवचेतनामें चली जाती है और स्वप्नमें, निष्क्रियताकी अवस्थामें, अत्यन्त तमोगुणी दशामें आन प्रकट होती है। अचेतना अज्ञानका अंतिम आश्रय स्थान है।

अब उन लहरोंके बारेमें जो साधारण प्रकृतिसे बार-बार आती हैं, सो वहांकी हीन शक्तियोंकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे यत्न करती हैं कि

व्यक्ति विशेषमें अपनी क्रियाको सदा बनाये रखें, उनकी जुटाई हुई चीजोंको जो बिगाड़ दिया गया है उनको फिरसे बना दें ; इसलिये जब ये देखती हैं कि उनके प्रभावको अस्वीकार किया जा रहा है तो ये लहरें बहुधा एक परिवर्द्धित शक्तिके साथ यहांतक कि विस्मयजनक प्रचंडताके साथ वापस आती हैं। किन्तु यदि एक बार पारिपार्श्विक चेतना शुद्ध की जा चुकी है तो ये अधिक देरतक नहीं ठहर सकतीं—हां, यदि "विरोधी शक्तियां" हस्तक्षेप करें तो एक दूसरी बात है। यह होनेपर भी इनका आक्रमण अवश्य ही हो सकता है, किन्तु यदि साधकने अन्तरात्मामें अपनी स्थिति दृढ कर ली है तो ये केवल आक्रमण भर करेंगी और लौट जायंगी।

यह ठीक है कि हमारे व्यक्तित्वका अधिकांश भाग या यों कहें कि विश्वप्रकृतिके प्रति प्रतिक्रिया करनेकी हमारी प्रवृत्तियों और झुकावोंका बहुतसा भाग हम पूर्वजन्मोंसे लाते हैं। वंशक्रमानुगत बातोंका प्रबल प्रभाव केवल बाह्य सत्तापर पड़ता है;

इसके अतिरिक्त वहांपर भी वंशक्रमानुगत बातोंका सभी प्रभाव स्वीकार नहीं किया जाता, जो बातें हमारे इस भावी जीवनके साथ मेल खाती हैं अथवा कम-से-कम उसमें बाधा पहुंचानेवाली नहीं होतीं, केवल वे ही स्वीकार की जाती हैं।

*

* *

अवचेतना अभ्यासों और स्मृतियोंका घर है और यह पुरानी निग्रह की हुई प्रतिक्रियाओं और प्रतिबिंबों तथा मन, प्राण या शरीरसंबंधी प्रत्युत्तरोंको लगातार, अथवा जब भी वह कर सके तभी, दुहराया करती है। इस अवचेतनाको अपनी सत्ताके उच्चतर भागोंके ऐसे आग्रहद्वारा, जो उनसे भी अधिक लगातार रहनेवाला हो, हमें यह सिखा देना होगा कि यह पुरानी आदतोंको छोड़ दे और नवीन तथा सत्य अभ्यासोंको ग्रहण करने लग जाय।

*

* *

तुम इस बातको अनुभव नहीं करते हो कि साधारण प्राकृतिक सत्ताका कितना बड़ा भाग भौतिक अवचेतनामें रहता है। यही स्थान है जहां मन और प्राणकी अभ्यासगत गतियां जमा रहती हैं और यहींसे ये जागृत मनमें आ जाती हैं। ऊपरकी चेतनामेंसे निकाल बाहर किये जानेपर ये इसी "पणिओंकी गुफामें" आश्रय लेती हैं। चूंकि अब इन्हें जागृत अवस्थामें तो स्वच्छंदतापूर्वक बाहर नहीं निकलने दिया जाता इसलिये ये निद्रावस्थामें स्वप्नके रूपमें आती हैं। जब ये अवचेतनामेंसे भी दूर कर दी जाती हैं, इन छिपे हुए स्तरोंको प्रकाशित करके इनके बीजतकका भी नाश कर दिया जाता है तभी ये सदाके लिये चली जाती हैं। जैसे-जैसे तुम्हारी चेतना अंदरकी ओर गहराईमें उतरती जायगी और तुम्हारे इन आवेष्टित हीनतर भागोंमें उच्चतर ज्योति उतरकर आती जायगी वैसे-वैसे ये बातें जो अब इस रूपमें बार-बार होती हैं वे लोप हो जायंगी।

*

* *

निस्सन्देह, यह संभव है कि शक्तियोंको नीचेसे ऊपर खींचा जा सके। यह हो सकता है कि तुम्हारे आकर्षण करनेपर जो शक्तियां ऊपरको उठती हैं वे नीचेमें छिपी हुई दिव्य शक्तियां ही हों और यदि ऐसा है तो यह जो गति ऊपरकी ओर होती है वह ऊपरमें जो दिव्य शक्ति है उसकी गति और प्रयत्नको पूरा करती है, विशेषतः उस शक्तिकी इस बातमें सहायता करती है कि वह शरीरमें उतर आवे। अथवा यह भी हो सकता है कि ये अज्ञानकी शक्तियां हों जो नीचे रहती हैं और पुकार होनेपर ऊपर आ जाती हैं और यदि ऐसा है तो इस प्रकारके आकर्षणका यह फल होगा कि या तो इससे तमस् छा जायगा या बेचैनी पैदा हो जायगी—कभी-कभी तो बहुत अधिक मात्रामें जड़ता आ घेरती है अथवा भयंकर उथल-पुथल या बेचैनी हो जाती है।

निम्नतर प्राणका स्तर अत्यंत अंधकारमय स्तर है और इसको पूरी तरह खोलकर उसी अवस्थामें लाभ उठाया जा सकता है जब कि इसके ऊपरके स्तर

ज्योति और ज्ञानके प्रवाहके लिये पूरी तरहसे खोल दिये जा चुके हों। ऊपरके स्तरोंको इस प्रकारसे तैयार किये बिना और ज्ञानको प्राप्त किये बिना ही जो निम्नतर प्राणपर पूरा ध्यान लगा देता है वह बहुतसी उलझनोंमें पड़ जा सकता है। इस बातका यह अर्थ नहीं है कि इस स्तरकी अनुभूतियां उपर्युक्त तैयारी होनेके पहले यहांतक कि साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें कभी होंगी ही नहीं; ये अनुभूतियां तो आप-से-आप भी होती हैं, किन्तु उन्हें अत्यधिक महत्त्व नहीं देना चाहिये।

*

*   *

एक **योग-शक्ति** है जो आन्तरिक शरीरमें कुंडलीकृत अथवा सुप्त अवस्थामें पड़ी है, क्रियाशील नहीं है। जब कोई योग करता है तब यह कुंडलिनी-शक्ति अपनेको अकुंडलित करती है और **भागवत चैतन्य** और **भागवत शक्ति** जो ऊपर प्रतीक्षा कर रहे हैं उनसे मिलनेके लिये ऊपरकी ओर

उठती है। जब यह होता है, जब जागृत हुई यह **योग-शक्ति** ऊपर उठती है, तब प्राय: ऐसा अनुभव होता है कि मानो कोई सर्प अपनेको अकुंडलित करता हुआ सीधा खड़ा हो रहा है और अपनेको अधिकाधिक ऊपर उठा रहा है। जब यह योग-शक्ति ऊपर पहुंचकर **भागवत चैतन्यसे** मिल जाती है तब **भागवत चैतन्यकी** शक्ति शरीरमें अधिक सुगमतासे उतर आ सकती है और यह अनुभव किया जा सकता है कि वहां यह शक्ति प्रकृतिका परिवर्तन कर रही है।

तुम्हें जो यह अनुभव हुआ कि तुम्हारा शरीर और तुम्हारी आंखें ऊपरकी ओर खिंची जा रही हैं, यह उसी गतिका एक अंग है। यह शरीरकी आंतरिक चेतना और शरीरकी आंतरिक सूक्ष्म दृष्टि है जो ऊपरकी ओर देख रही है और ऊपर उठ रही है तथा ऊपरमें जो भागवत चेतना और भागवत दृष्टि हैं उनसे मिलनेकी चेष्टा कर रही है।

*

*   *

यदि तुम अपनी प्रकृतिके निम्नतर भागों या कक्षाओंमें उतरते हो तो तुमको इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि चेतनाके वे उच्चतर प्रदेश जो नवजीवन प्राप्त कर चुके हैं उनसे तुम जीवित-जागृत संबंध बनाये रख सको और इनके द्वारा **ज्योति** और **शुद्धिको** नीचेके उन क्षेत्रोंमें उतारकर ला सको जहां अभीतक नवजीवन नहीं प्राप्त हुआ है। यदि साधक उपर्युक्त जागरुकता नहीं रखेगा तो वह निम्न कोटिके स्तरोंकी इन नवजीवनरहित गतियोंमें डूब जायगा और अपनेको अज्ञानान्धकार और कष्टमें पायगा।

सबसे निरापद मार्ग यह है कि चेतनाके उच्चतर भागोंमें ही रहा जाय और वहींसे निम्नतर भागोंपर एक दबाव डाला जाय जिससे उनका परिवर्तन हो सके। यह इस तरहसे किया जा सकता है और इसे करनेके लिये तुम्हें केवल इसकी युक्तिको प्राप्त कर लेने और उसका अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। यदि तुम ऐसा करनेकी शक्ति प्राप्त कर लो तो तुम्हारी प्रगति बहुत सहज, सरल और कम दुःखदायी हो जायगी।

*

*   *

तुमने जो मनोविश्लेषणका अभ्यास किया वह भूल की, इसने कम-से-कम इस समयके लिये तो पवित्री-करणकी क्रियाको अधिक जटिल बना दिया, सुगम नहीं। फ्रायेड (Freud) का मनोविश्लेषण एक ऐसा अभ्यास है जिसका योगके साथ, किसी भी हालतमें संबंध नहीं जोड़ना चाहिये। इस मनो-विश्लेषणमें यह किया जाता है कि किसी ऐसे भागको जो अत्यंत अंधकारमय है, अत्यंत खतरनाक है, जो प्रकृतिका अत्यंत अस्वस्थ भाग है, जो निम्नप्राणका अवचेतन स्तर है, उसको पकड़कर उसके कुछ अत्यंत बिगड़े हुए रूपोंको अलग कर लिया जाता है और उस भागको तथा उसके उन रूपोंको उनका जो प्रकृतिमें सच्चा स्थान है, उससे कहीं अधिक महत्व दे दिया जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान एक ऐसा सायंस है जो अभी शैशवावस्थामें है अतः उतावला, आनुमानिक और असंस्कृत है। जैसा कि अन्य शैशवावस्थाके सायंसोंमें होता है वैसा ही यहां भी मानवी मनकी सार्वत्रिक आदत—जिसका काम है एक आंशिक अथवा एकदेशीय सत्यको लेकर उसे

अनुचित रूपसे सार्वदेशिक बना देना और फिर प्रकृतिके संपूर्ण क्षेत्रोंकी अपनी इसी संकुचित भाषामें व्याख्या करनेकी चेष्टा करना—विप्लव मचा रही है। इसके अतिरिक्त निगृहीत काम-वासनासंबंधी संमिश्र क्रियाओंके महत्त्वको इतना अधिक अतिरंजित कर देना एक खतरनाक असत्य है और ऐसा करनेसे एक गंदा प्रभाव उत्पन्न हो सकता है और यह हो सकता है कि मन और प्राण पहलेकी अपेक्षा भी अधिक अपवित्र बननेको प्रवृत्त हों, न कि कम।

यह सत्य है कि मनुष्यके अंदर जो अंतस्तलकी चेतना है यही उसकी प्रकृतिका सबसे बड़ा भाग है और इसके अंदर ही उन अदृश्य क्रियाशक्तियोंका रहस्य छिपा पड़ा है जिनके द्वारा हमारी ऊपरी तलकी संपूर्ण क्रियाओंकी व्याख्या की जा सकती है। किन्तु निम्नतर प्राणकी अवचेतना—और ऐसा मालूम होता है कि जो कुछ है वह यही है जिसे फ्रायडका यह मनोविश्लेषण जानता है, बल्कि वह इसके भी केवल थोड़ेसे स्वल्प प्रकाशित अंशोंको ही जानता है—जो समग्र अन्तस्तलकी चेतनाके एक मर्यादित और अत्यंत

लघुतर भागके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हमारी यह अन्तस्तलकी चेतना हमारे समग्र ऊपरी तलके व्यक्तित्वके पीछे रहती है और इस व्यक्तित्वका भरण करती है; इस अन्तस्तलकी चेतनामें ऊपरी तलके मनके पीछे एक वृहत्तर और अधिक कार्यक्षम मन है, ऊपरी तलके प्राणके पीछे एक वृहत्तर और अधिक शक्तिशाली प्राण है, ऊपरी तलकी शारीरिक सत्ताके पीछे एक सूक्ष्मतर और अधिक स्वतंत्र भौतिक चेतना है। और फिर यह अन्तस्तलकी चेतना ऊपरकी ओर, इस मन, प्राण और शरीरके ऊपर उच्चतर अतिचेतनाकी ओर खुलती है जैसे कि यह नीचेकी ओर निम्नतर अवचेतनाके क्षेत्रोंकी ओर खुलता है। यदि कोई चाहता है कि वह अपनी प्रकृतिको शुद्ध और रूपान्तरित कर ले तो उसे इन्हीं उच्चतर क्षेत्रोंकी शक्तिके प्रति अपने-आपको खोलना होगा, उन क्षेत्रोंमें ऊपर उठना होगा और उनकी शक्ति-द्वारा अन्तस्तलकी चेतना और ऊपरी तलकी सत्ता इन दोनोंका परिवर्तन करना होगा। और यह कार्य भी सावधानीके साथ करना होगा, अपरिपक्व अवस्थामें

या उतावलीके साथ नहीं, बल्कि एक उच्चतर परिचालनका अनुसरण करते हुए और सदा उचित भावमें रहते हुए ; नहीं तो हो सकता है कि जिस शक्तिको नीचे उतारा जायगा वह इतनी प्रबल हो कि उसको प्रकृतिका यह अंधकारमय और कमजोर ढांचा सहन न कर सके। किन्तु निम्नतर अवचेतनाके उद्घाटनसे प्रारंभ करना, जिसमें यह खतरा रहता है कि उसमें जो कुछ गंदला या अंधेरा है वह सब ऊपर उठ आवे, बड़ी भारी भूल है, यह तो अपना रास्ता छोड़कर विपत्तिको निमंत्रण देने जाना है। पहले उसे उच्चतर प्राण और मनको बलवान और दृढ़ बना लेना चाहिये, उनमें उर्ध्वसे ज्योति और शान्तिको लाकर भर देना चाहिये ; ऐसा हो जानेके बाद वह अवचेतनाको अधिक सुरक्षिततापूर्वक तथा द्रुत और सफल परिवर्तनकी संभावनापूर्वक खोल सकता है, यहांतक कि वह उसमें गोता भी लगा सकता है।

किन्हीं बातोंसे उनका अनुभव ले लेनेके द्वारा छुटकारा पानेकी पद्धति भी खतरेसे खाली नहीं, कारण इस रास्तेपर चलनेसे ऐसा होता है कि साधक

उनसे छुटकारा प्राप्त करनेकी जगह उनमें सुगमतासे फंस जा सकता है। दो प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रेरक-भाव हैं जो इस पद्धतिका पोषण करते हैं। एक प्रेरक-भाव यह है कि विषयका इस प्रयोजनसे भोग किया जाय कि उसे थकाकर नष्ट किया जा सके, परन्तु यह किन्हीं विशेष अवस्थाओंमें ही उचित कहा जा सकता है, विशेषतः तब जब कि किसी स्वाभाविक प्रवृत्तिका साधकपर इतना प्रबल अधिकार जम चुका हो या उसमें उस प्रवृत्तिके प्रति इतना प्रबल आकर्षण होता हो कि विचारके द्वारा अथवा विषयको त्याग देने तथा उसके स्थानपर सत्य गतिको स्थापित करनेकी प्रक्रियाद्वारा उससे पिण्ड न छुड़ाया जा सकता हो और यह जब बहुत ज्यादा होता है तब तो कभी-कभी साधकको यहांतक करना पड़ता है कि वह साधारण जीवनकी साधारण क्रियाओंकी ओर ही पुनः लौट जाय, और अपने नवीन मन और संकल्पको इन क्रियाओंके पीछे रखते हुए इस साधारण जीवनका सत्य अनुभव प्राप्त कर ले और ऐसा करनेके बाद जब यह बाधा दूर हो जाय अथवा दूर होनेकी तैयारीपर

पहुंच जाय तब पुनः आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश करे। किन्तु जान-बूझकर विषयोंमें पड़नेका यह तरीका सदा खतरनाक है, यद्यपि कभी-कभी ऐसा करना अपरिहार्य हो जाता है। यह तभी सफल होता है जब कि साधककी सत्तामें आत्म-साक्षात्कार-की अवस्थातक पहुंचनेके लिये उत्कट संकल्प होता है; कारण उस अवस्थामें यह विषयसेवन उसमें इन विषयोंके प्रति एक तीव्र असंतोष और प्रतिक्रिया अर्थात् वैराग्यको उत्पन्न कर देता है, और तब सिद्धि प्राप्त कर लेनेका उसका जो संकल्प है उसे प्रकृतिके प्रतिरोधी भागोंमें भी उतारा जा सकता है।

अनुभव ले लेनेका जो दूसरा प्रेरक-भाव होता है वह सर्वसाधारणके अधिक उपयोगमें आनेवाला होता है। साधकको जब किसी वस्तुको अपनी सत्तामेंसे निकाल बाहर करना है तब यह आवश्यक है कि वह पहले उस वस्तुको जान ले, उसकी क्रियाका स्पष्ट आंतरिक अनुभव प्राप्त कर ले तथा प्रकृतिकी कार्य-प्रणालीमें उस वस्तुका जो ठीक वास्तविक स्थान है उसका पता लगा ले। इसके बाद, यदि वह यह

देखता है कि वह सर्वथा मिथ्या गति है तो वह उसे दूर करनेके लिये और यदि वह यह देखता है कि वह एक उच्चतर और सत्य गतिका ही विकृत रूपमात्र है तो उसको रूपांतरित करनेके लिये उसपर कार्य कर सकता है। इसीको या इससे मिलती-जुलती चीजको ही मनोविश्लेषण-पद्धतिने अपने प्रारंभिक और अपर्याप्त ज्ञानके द्वारा अपरिष्कृत और अनुचित रीतिसे संपन्न करनेकी चेष्टा की है। निम्नतर गतियोंको, उनका ज्ञान प्राप्त करने और उनसे व्यवहार करनेके लिये, चेतनाके पूर्ण प्रकाशमें ऊपर उठा ले जानेकी क्रिया अपरिहार्य है; कारण इसके बिना पूर्ण परिवर्तन हो ही नहीं सकता। किन्तु यह ठीक तरहसे तभी सफल हो सकता है जब कि निम्न प्रवृत्तिकी उस शक्तिपर जो परिवर्तित किये जानेके लिये ऊपर उठायी गयी है, उसपर कभी-न-कभी, जल्दी या देरमें, विजय प्राप्त कर लेनेके निमित्त उच्चतर ज्योति और शक्ति पर्याप्त रूपसे काम कर रही हों। बहुतसे लोग अनुभव लेनेका बहाना करके न केवल विरोधी गतिको ही ऊपर उठाते हैं, बल्कि उस

गतिका त्याग करनेके बदले उसे स्वीकृति देकर उसकी सहायता करते हैं, उसे जारी रखने या बारबार करते रहनेके लिये एक दलील खोज लेते हैं और इस प्रकार उससे खेल करते रहते, उसका जो पुनरावर्तन होता है उसे प्रश्रय देते रहते और उसे पालते रहते हैं; बादमें जब वे उससे पिंड छुड़ाना चाहते हैं, तब उनपर उसका इतना अधिकार जम चुका होता है कि वे देखते हैं कि अब वे उसके पंजे में फंस गये हैं और विवश हो चुके हैं और केवल एक भयानक संघर्ष या भगवत्कृपाका हस्तक्षेप ही उन्हें इससे मुक्त कर सकता है। प्राणकी एक प्रकारकी ऐंठन या विकारके कारण कुछ लोग ऐसा करते हैं; दूसरे केवल अज्ञानके वश होकर करते हैं किन्तु जैसा साधारण जीवनमें है वैसा ही योगमें भी **प्रकृति** अज्ञानको साधकके बचावके लिये कोई संतोषजनक प्रमाण नहीं मानती। वैसे तो प्रकृतिके सभी अज्ञानमय भागोंके साथ अनुचित व्यवहार करनेमें यह खतरा लगा ही हुआ है; किन्तु निम्न प्राणकी अवचेतना और उसकी गतियोंसे बढ़कर अधिक अज्ञानमय, अधिक खतरनाक, अधिक कुतर्की

और पुनरावर्तन करनेके लिये अधिक हठी प्रकृतिका और कोई भाग नहीं है । अतः इस भागको अपक्वावस्थामें ही या अनुचित रीतिसे अनुभव लेनेके लिये ऊपर उठाकर ले जानेका अर्थ होता है सचेतन भागोंको भी उसकी अंधकारमय और गंदी सामग्रीमें मिलाकर लिप्त करने और इस प्रकार समग्र प्राण यहांतक कि मनोमय प्रकृतिको भी विषाक्त करनेकी जोखिम उठाना । इसलिये सदा ही साधकको यह चाहिये कि वह भावात्मक अनुभूति-द्वारा प्रारंभ करे न कि अभावात्मकद्वारा, अर्थात् पहले वह दिव्य प्रकृतिकी किसी वस्तु, शान्ति, ज्योति, समता, शुद्धि, दिव्य बलको अपनी सचेतन सत्ताके उन भागोंमें जिनका परिवर्तन करना है, उतार लावे और जब यह कार्य पर्याप्त मात्रामें हो जाय और वहां एक दृढ़ भावात्मक नींवकी स्थापना हो जाय, तभी यह निरापद होता है कि उन छिपे हुए अवचेतनाके विरोधी तत्त्वोंको इस प्रयोजनके लिये ऊपर उठाया जाय जिसमें दिव्य शान्ति, ज्योति, शक्ति और ज्ञानके बलके द्वारा उनका विनाश और निराकरण किया जा

सके। ऐसा होनेपर भी इस निम्नतर सामग्रीका यथेष्ट अंश आप-से-आप ऊपर उठता रहेगा और इन विघ्नोंसे त्राण पानेके लिये जितना आवश्यक है उतना अनुभव तुम्हें देता रहेगा; किन्तु अंतर यही होगा कि उस समय इनके साथ व्यवहार करनेमें तुम्हें बहुत ही कम खतरा रहेगा और यह कार्य तुम एक उच्चतर आन्तर परिचालनकी अधीनतामें रहते हुए कर सकोगे।

*

*   *

इन मनोविश्लेषणवादियोंकी बातोंपर जरा भी गंभीरतापूर्वक ध्यान देना मेरे लिये उस समय कठिन हो जाता है जब मैं देखता हूं कि ये लोग आध्यात्मिक अनुभूतिको अपनी टार्चकी झिलमिलाती हुई रोशनीसे परीक्षा करनेकी चेष्टा करते हैं—फिर भी शायद इनपर विचार करना चाहिये, कारण अर्द्ध-ज्ञान एक शक्तिशाली चीज होती है जो वास्तविक सत्यको सामने आने देनेमें एक महान् बाधा बन सकती है।

यह नवीन मनोविज्ञान मुझे तो बहुत कुछ ऐसा दिखायी देता है जैसे कि बालक यथोचित रूपसे वर्णमाला भी नहीं, किन्तु उसके किसी संक्षिप्त रूपको याद कर रहे हों और अवचेतना तथा रहस्यमय, गुप्त और अति-अहंकाररूपी अपने क-ख-ग-घ को मिला-मिलाकर रखनेमें मग्न हो रहे हों और यह समझ रहे हों कि उनकी यह पहली किताब, जो एक धुंधला-सा आरंभ है (पे-ड़ पेड़, बि-ल्ली बिल्ली)—यही वास्तविक ज्ञानका प्राण है। ये लोग नीचेकी ओरसे ऊपरको देखते हैं और निम्नतर अंधकारके द्वारा उच्चतर प्रकाशकी व्याख्या किया करते हैं; किन्तु इन चीजोंका मूल ऊपर है नीचे नहीं "उपरि बुध्न एषाम्।" वस्तुओंका वास्तविक मूल अतिचेतना है न कि अवचेतना। कमलका अर्थ उस कीचड़के, जिसके अंदरसे वह यहां इस भूमिपर पैदा होता है, किन्हीं गुप्त तत्त्वोंका विश्लेषण करके नहीं जाना जा सकता; उसका रहस्य तो कमलके उस द्युलोकस्थ आदर्श नमूनेमें मिलेगा जो वहांके **प्रकाशमें** सदा सर्वदा खिला रहता है। इसके अतिरिक्त इन मनोविश्लेषणवादियोंका स्वनिर्मित क्षेत्र

भी क्षुद्र, अंधकारमय और मर्यादित है ; किसी चीजके अंशको जाननेके लिये पहले तुम्हें उस चीजकी समग्रताका ज्ञान होना आवश्यक है, इसी प्रकार निम्न-तमको यथार्थ रूपसे जाननेके लिये पहले उच्चतमको जानना होगा। यही शुभ आशा है एक बृहत्तर मनोविज्ञानके उदय होनेकी जो उदित होनेके लिये अपने कालकी प्रतीक्षा कर रहा है जिसके समक्ष यह इस प्रकारका अंधेरेमें टटोलते फिरना समाप्त हो जायगा और इसका अस्तित्व ही नहीं रह जायगा।

*

*   *

चूंकि निद्राका आधार अवचेतना है, इसलिये यह प्रायः चेतनाको निम्नतर स्तरमें गिरा देती है, यदि यह सचेतन निद्रा न हो जाय। अतः इसका स्थायी इलाज यही है कि इसे अधिकाधिक सचेतन किया जाय; किन्तु जबतक यह नहीं हो जाता तबतक भी साधकको जब वह जागे तब सदा इस अधोगमनकी प्रवृत्तिके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते रहना

चाहिये और रात्रिकी सुस्तीके असरको अपनेमें जमा नहीं होने देना चाहिये। परन्तु इन बातोंके लिये सदा एक स्थायी प्रयास और साधनाकी आवश्यकता होती है और यह समय-सापेक्ष है। कभी-कभी तो इसमें बहुत अधिक समय लग जाता है। चूंकि तात्कालिक फल मिलता नहीं दिखायी देता, इस कारणसे इस प्रयासको छोड़ देना, इससे काम नहीं चलेगा।

*

*   *

जबतक कि निद्रावस्थामें जो अनुभूतियाँ होती हैं वे विशेष प्रकारकी और ऊपर उठानेवाली न हों अथवा जबतक कि जो यौगिक चेतना प्राप्त की गयी है वह स्वयं भौतिक स्तरमें ही इतनी प्रबल न हो गयी हो कि वह जड़ताकी ओर ले जानेवाले खिंचावपर प्रतिक्रिया कर सके, तबतक जागृत चेतनाके समय साधनाके द्वारा साधक चेतनाके जिस स्तरमें पहुंचता है रात्रिमें वह चेतना प्रायः सदा ही उस स्तरसे नीचे

उतर आती है। साधारण निद्रावस्थामें जो चेतना शरीरमें रहती है वह अवचेतन शरीरकी चेतना होती है। यह क्षीणताको प्राप्त हुई चेतना होती है, न कि सत्ताके बाकीके अङ्गोंकी तरह जागृत और जीवित चेतना। सत्ताका बाकीका अङ्ग उस समय अलग रहता है और उसकी चेतनाका एक भाग बाहर निकलकर अन्य स्तरों और क्षेत्रोंमें जाता है और अनुभूतियां प्राप्त करता है। ये अनुभूतियां ही, जैसे स्वप्नका तुमने वर्णन किया है वैसे स्वप्नोंके रूपमें दिखायी देती हैं। तुम कहते हो कि तुम बहुत बुरे स्थानोंमें चले जाते हो और तुम्हें इस तरहकी अनुभूतियां होती हैं जिनमेंसे एकका तुमने उल्लेख किया है। परन्तु यह इस बातका कोई जरूरी चिह्न नहीं है कि तुममें कोई खराबी है। इसका केवल यही अर्थ है कि तुम प्राणमय जगत्में चले जाते हो, जैसा कि हरेक मनुष्य करता है और यह प्राणमय जगत् ऐसे स्थानों और ऐसी अनुभूतियोंसे भरा पड़ा है। तुम्हें जो करना है वह यह नहीं कि तुम इस बातका इतना अधिक यत्न करो कि

तुम ऐसे स्थानोंमें जाओ ही नहीं, कारण वहांका जाना तो सर्वथा बंद नहीं किया जा सकता, किन्तु तुमको इस बातका यत्न करना चाहिये कि जबतक इन अतिभौतिक प्रकृतिके क्षेत्रोंपर तुम्हें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त न हो तबतक तुम जो वहां जाओ तो पूर्ण संरक्षणके साथ ही जाओ। यह भी एक कारण है जिससे तुमको सोनेसे पहले **माता**का स्मरण कर लेना चाहिये और **शक्ति**के प्रति उन्मुख हो जाना चाहिये; कारण जितना ही अधिक तुम यह अभ्यास डाल सकोगे और जितना ही इसे सफलतापूर्वक कर सकोगे उतना ही अधिक यह संरक्षण तुम्हारे साथ रहेगा।

*

*   *

इन सब स्वप्नोंको तुम निरे स्वप्न ही मत समझो, ये सभी आकस्मिक और असंबद्ध रूपसे अथवा अवचेतनाद्वारा निर्मिति नहीं हुए हैं। बहुतसे तो प्राणमय लोक, जहां जीव निद्रावस्थामें प्रवेश करता है

वहांकी अनुभूतियोंके चित्रण या प्रतिच्छायारूप हैं और कुछ सूक्ष्म भौतिक स्तरके दृश्य अथवा घटनाएं हैं। वहांपर जीव प्रायः इस प्रकारकी घटनाओंके स्पर्शमें आता है अथवा ऐसी क्रियाएं करता रहता है जो उसके जागृत कालके जीवनकी घटनाओं और क्रियाओंसे मिलती-जुलती होती हैं। इन घटनाओं और क्रियाओंमें वे ही परिस्थितियां और मनुष्य होते हैं जो उसके जागृत कालके जीवनमें थे, यद्यपि इनके क्रम और आकार-प्रकारमें कम या बहुत अधिक अंतर रहता है। किन्तु स्वप्नमें अन्य परिस्थितियों और अन्य मनुष्योंसे भी संस्पर्श हो सकता है, जिनसे भौतिक जीवनका परिचय ही न हो या जो भौतिक जगत्से कुछ भी संबंध न रखते हों।

जागृत दशामें तुम अपनी प्रकृतिके कुछ मर्यादित क्षेत्र और क्रियासे ही अवगत होते हो। निद्रावस्थामें तुम इस क्षेत्रके परे जो चीजें हैं उनकी स्पष्ट रूपसे जानकारी प्राप्त कर सकते हो—जागृत दशाके पीछे रहनेवाली एक बृहत्तर मनोमय या प्राणमय प्रकृति है अथवा एक सूक्ष्म भौतिक या अवचेतन प्रकृति है,

इसी प्रकृतिमें तुम्हारा वह अधिकांश भाग रहता है जो तुम्हारे अंदर विद्यमान है, परन्तु जो जागृत अवस्थामें स्पष्टतया क्रियाशील नहीं रहता। इन समस्त अज्ञानमय क्षेत्रोंको शुद्ध करना होगा, नहीं तो प्रकृतिका परिवर्तन होना अशक्य हो जायगा। प्राणमय या अवचेतन स्वप्नोंके दबावसे तुम्हें अपने-आपको विचलित नहीं होने देना चाहिये—कारण स्वप्नानुभूतिका अधिकांश भाग इन्हीं दोनोंसे बना हुआ होता है--प्रत्युत् इन बातोंसे तथा जिन क्रियाओंका ये निर्देश करते हैं उनसे छुटकारा पानेके लिये और सचेतन होने तथा भागवत सत्यके अतिरिक्त और समस्त चीजोंका त्याग करनेके लिये अभीप्सा करनी चाहिये। इस भागवत सत्यको तुम जितना ही अधिक प्राप्त करोगे और जागृत अवस्थामें, बाकी-की सब चीजोंका त्याग करते हुए, इसे ही निरंतर अपनाये रह सकोगे, उतनी ही निम्नकोटिकी यह सब स्वप्न-सामग्री अधिकाधिक शुद्ध होती चली जायगी।

*

* *

जिन स्वप्नोंका तुम वर्णन करते हो ये स्पष्ट रूपसे प्रतीकात्मक स्वप्न हैं और प्राणमय स्तरके हैं। ये स्वप्न किसी भी बातके प्रतीक हो सकते हैं, जैसे:—क्रीड़ा करती हुई शक्तियोंके, जिन चीजोंको कार्यमें परिणत किया है या जिनकी अनुभूति प्राप्त की है उनके आधारभूत ढांचे या बुनावटके, वास्तविक या संभावित घटनाओंके, आंतर या बाह्य प्रकृतिमें असली या सुझायी हुई गतियों या परिवर्तनोंके।

भीरुता, स्वप्नमें भय होना जिसका संकेत था, संभवत: सचेतन मन या उच्चतर प्राणकी कोई वस्तु नहीं थी किन्तु निम्नप्राण प्रकृतिमें कोई अवचेतनाकी वस्तु थी। यह भाग सदा ही अपनेको तुच्छ और अकिंचन बोध करता है और इसको यह भय लगा ही रहता है कि वह कहीं महत्तर चेतनाद्वारा निगल न लिया जाय—यह भय कुछ लोगोंको तो प्रथम स्पर्शके होनेपर यहांतक होता है जैसे कोई दहला देनेवाला आतंक या त्रास हो।

*

*   *

इस प्रकारके सब स्वप्न बहुत स्पष्ट रूपसे ऐसी रचनाएं हैं जैसी कि जीवको प्राणमय जगत्में प्रायः मिलती हैं और कभी-कभी मनोमय जगत्में भी। कभी तो ये रचनाएं तुम्हारे अपने ही मन या प्राणकी होती हैं; कभी दूसरोंके मनकी होती हैं जो या तो ठीक उसी रूपमें या कुछ परिवर्तनके साथ तुममें चली आती हैं; और कभी ऐसी रचनाएं आ जाती हैं जो दूसरे स्तरोंकी अमानुषी शक्तियों या सत्ताओं-द्वारा रची हुई होती हैं। ये बातें सत्य नहीं होतीं और इस भौतिक जगत्में इनके सच्ची साबित होनेकी कोई जरूरत भी नहीं, किन्तु फिर भी यदि इनकी रचना इसी प्रयोजन और इसी प्रवृत्तिसे हुई हो तो ये शरीरपर असर कर सकती हैं, और यदि इन्हें सहमति दी गयी तो ये आंतर या बाह्य जीवनमें अपने उद्दिष्ट परिणामको पूरा कर सकती अथवा अपना मतलब साध सकती हैं—कारण ये स्वप्न अधिकांशतः प्रतीकात्मक या आयोजनात्मक होते हैं। इनके साथ यही उचित है कि इनका केवल निरीक्षण किया जाय तथा इनको समझ लिया जाय और यदि ये विरोधी

स्रोतसे आये हों तो इनका त्याग कर दिया जाय या इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

एक और प्रकारके स्वप्न होते हैं जो उपर्युक्त रूपके नहीं होते, बल्कि दूसरे स्तरों, दूसरे लोकोंमें, हमारी अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न अवस्थाओंके अंतर्गत जो बातें वस्तुतः घटित होती हैं उनका निदर्शन करानेवाले या उनकी प्रतिच्छायारूप होते हैं। और फिर कुछ ऐसे स्वप्न होते हैं जो एकदम प्रतीकात्मक होते हैं और कुछ ऐसे जो हमारे अंदरकी वर्तमान गतियों और प्रवृत्तियोंका दिग्दर्शन कराते हैं, इन गतियों और प्रवृत्तियोंको हमारा जागृत मन चाहे जानता हो या नहीं, अथवा ये स्वप्न हमारी पुरानी स्मृतियोंको अपने उपयोगमें लाते हैं या अवचेतनाकी चीजोंको, वे चाहे निष्क्रिय रूपसे पड़ी हों या अभीतक कार्यशील हों, ऊपर उठाकर ले आते हैं। इस अवचेतनामें उन विविध प्रकारकी सामग्रियोंका समूह है जिन्हें उच्च चेतनामें उठनेवाले साधकको या तो परिवर्तित कर लेना है या जिनसे छुटकारा ही पा लेना है। इन स्वप्नोंका अभिप्राय समझ लेना यदि कोई सीख

जाय, तो वह इनसे हमारी प्रकृतिको और अन्य प्रकृतिके रहस्योंका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

* *

*

रातको जागते रहनेका यत्न करना ठीक मार्ग नहीं है; आवश्यक निद्राका निग्रह करनेसे शरीर तामसिक हो जाता और जागृत कालके समय जिस एकाग्रताकी आवश्यकता है उसके लिये असमर्थ हो जाता है। उचित मार्ग निद्राका निग्रह करना नहीं बल्कि उसे रूपांतरित करना है, विशेषतः यह सीख लेना है कि निद्रा लेते हुए भी अधिकाधिक सचेतन कैसे रहा जाय। ऐसा करनेसे निद्रा चेतनाकी एक आंतरिक अवस्थामें परिणत हो जाती है जिस अवस्थामें साधना ठीक उसी प्रकार चालू रह सकती है जैसी कि जागृत अवस्थामें, और साथ-ही-साथ साधक इस योग्य हो जाता है कि चेतनाके भौतिक स्तरके अतिरिक्त अन्य स्तरोंमें भी

वह प्रवेश कर सके और सूचनात्मक तथा उपयोग्य अनुभूतियोंके एक अति विशाल क्षेत्रपर आधिपत्य स्थापित कर सके।

*

* *

निद्राका काम किसी दूसरी चीजसे नहीं लिया जा सकता, किन्तु इसका परिवर्तन किया जा सकता है; कारण तुम निद्रामें भी सचेतन रह सकते हो। यदि तुम इस प्रकार सचेतन हो सको तो रात्रि उच्चतर कार्यके लिये उपयोगमें लायी जा सकती है—बशर्ते कि शरीरको आवश्यक आराम मिल जाय; कारण निद्राका उद्देश्य यह है कि इससे शरीरको आराम मिले और प्राण-भौतिक शक्तिका फिरसे संचार हो। शरीरको आहार और निद्रा न देना भूल है, जैसा कि कुछ लोग वैराग्यके भाव या आवेशमें आकर करना चाहते हैं—ऐसा करनेसे तो भौतिक अवलम्ब ही क्षीण होने लगता है और, यद्यपि यौगिक या प्राणमय शक्ति थके हुए या क्षीणताको प्राप्त हुए शरीरके

अवयवोंको दीर्घकालतक कार्यक्षम बनाये हुए रख सकती है, परन्तु एक समय आता है जब कि इस शक्तिका प्राप्त करना इतना सहज नहीं रहता, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि प्रायः असंभव हो जाता है। शरीर अपना कार्य सुचारु रूपसे कर सके, इसके लिये शरीरको जो कुछ आवश्यक है वह उसे दिया ही जाना चाहिये। परिमित पर यथेष्ट आहार (बिना किसी लोलुपता या कामनाके), यथेष्ट निद्रा, किन्तु घोर तामसिक प्रकारकी नहीं, यही नियम होना चाहिये।

*

*   *

जिस निद्राका तुमने वर्णन किया है जिसमें ज्योतिर्मय निश्चल-नीरवता होती है अथवा वह निद्रा जिसमें शरीरके रोम-रोममें आनंद छा जाता है, ये अवस्थाएं स्पष्ट रूपसे उत्तम हैं। इसको छोड़कर बाकीका जो निद्रा-काल है, जिसका तुम्हें ज्ञान नहीं रहता, हो सकता है कि उस समय तुम गभीर निद्राके

प्रभावमें थे और भौतिक स्तरसे निकलकर मनोमय, प्राणमय या अन्य स्तरोंमें चले गये थे। तुम कहते हो कि उस समय तुम अचेत थे, किन्तु यह तो केवल यही हो सकता है कि तुम्हें इस बातका स्मरण नहीं हो कि उस समय क्या क्या हुआ था, कारण उपर्युक्त स्तरोंसे लौटते समय चेतनाका एक तरहका पलटाव होता है, एक प्रकारका अवस्थांतर या विपर्यास होता है, उस समय निद्रावस्थामें जो कुछ भी अनुभव हुआ हो उसमेंसे संभवतः केवल अंतिम अनुभव अथवा वह अनुभव जो कि बहुत ही प्रभावोत्पादक हो उसको छोड़कर बाकीका सब कुछ भौतिक चेतनासे हट जाता है और ऐसा हो जाता है कि मानो वहां कुछ था ही नहीं, सब कुछ शून्य था। एक और भी शून्यावस्था होती है, जड़ताकी अवस्था, जो केवल शून्य ही नहीं प्रत्युत् भाराक्रान्त और स्मृतिसंज्ञा-विहीन होती है; किन्तु यह अवस्था तब होती है जब कोई गहरे तौरसे और प्रगाढ़ताके साथ अवचेतनामें प्रवेश कर जाता है; इस तरह अंधतलमें गोता लगाना अत्यंत अवांछनीय है, इससे चेतना अंधकारा-

च्छन्न और निम्नोन्मुखी हो जाती है तथा विश्रामके स्थानपर बहुधा थकावट उत्पन्न होती है जो ज्योतिर्मय निश्चल-नीरवताकी अवस्थासे बिलकुल विपरीत प्रकारकी अवस्था है।

*

* *

तुम्हारी निद्रा न तो अर्धनिद्रा थी, न चौथाई, न निद्राका षोड़शांश ही, यह चेतनाका अंत:प्रवेश था, जो इस अवस्थामें भी सचेतन तो रहती है पर बाह्य बातोंके लिये अपनेको बंद किये हुए होती है और केवल अंत: अनुभूतिके लिये ही उद्घाटित रहती है। इन दो सर्वथा भिन्न अवस्थाओंका तुम्हें विवेक होना चाहिये, एक अवस्था है निद्रा और दूसरी है समाधि (अवश्य ही निर्विकल्प नहीं) का प्रारंभ। इस तरहका अंत:प्रवेश आवश्यक है, कारण मनुष्यका क्रियाशील मन पहले बाह्य वस्तुओंकी ओर ही प्राय: मुंह किये हुए रहता है; यह मन अन्त: सत्ता (अन्त: मानस, अन्त: प्राण, अन्त: शरीर, अन्तरात्मा) में रहने लगे

इसके लिये इसे पहले पूर्ण रूपसे अन्तःमें प्रवेश करना होता है। किन्तु अभ्यासके द्वारा साधक एक ऐसी अवस्था प्राप्त कर सकता है जिसमें वह बाह्यतः सचेत रहता है पर फिर भी अन्तःमें निवास करता है और जब चाहे तब अन्तःप्रविष्ट या बहिर्गत अवस्थाओंमें आ जा सकता है। इस अवस्थाको प्राप्त होनेपर तुम जाग्रत अवस्थामें भी उस अवस्थाकीसी सघन निश्चलता और उसी अवस्थाकासा महत्तर और विशुद्धतर चेतनाका अपने अंदर ऊपरसे भरा जाना प्राप्त कर सकते हो, जिस अवस्थाको तुम भ्रमवश निद्राके नामसे पुकार रहे हो।

*

* *

साधना करते हुए इस तरहकी शारीरिक थकावट हो जाना, यह विभिन्न कारणोंसे हो सकता है:—

(१) शरीर जितना हजम कर सके उससे अधिक ग्रहण कर लेनेसे ऐसी थकावट आ सकती है। तब इसका इलाज है सचेतन निश्चलतामें शांतिपूर्वक

विश्राम करना, शक्तियोंको ग्रहण तो करना परन्तु ऐसा करनेका एकमात्र प्रयोजन सामर्थ्य और बलकी पुनःप्राप्ति हो, और कुछ भी नहीं ।

(२) निष्क्रियता जब जड़ताका रूप धारण कर ले तब ऐसी थकावट आ सकती है---यह जड़ता चेतनाको नीचे, अर्थात् साधारण भौतिक स्तरपर, उतार लाती है जो जल्दी ही थक जानेवाला और तामसिकताकी ओर झुकाव रखनेवाला होता है । यहांका इलाज यह है कि फिर सत्य चेतनामें लौटा जाय और वहीं विश्राम किया जाय, न कि जड़तामें ।

(३) केवल शरीरद्वारा ही अत्यधिक परिश्रम किये जानेके कारण भी यह थकावट आ सकती है—अर्थात् शरीरको यथेष्ट निद्रा या विश्राम न दिया गया हो । शरीर योगका आधार है, किन्तु इसकी शक्ति ऐसी नहीं है कि कभी क्षीण ही न हो, अतः इसकी शक्तियोंके व्ययकी देख-भाल रखनेकी आवश्यकता होती है । विश्वव्यापी प्राणशक्तिको ला-लाकर तुम शरीरको बनाये रख सकते हो, किन्तु इस

विश्वव्यापी प्राणशक्तिसे भी बल प्राप्त करते रहनेकी एक मर्यादा है। अतएव उन्नति करनेकी उत्सुकतामें भी एक प्रकारकी परिमितता बरतनेकी आवश्यकता है—परिमितता न कि उदासीनता या आलस्य।

*   *
*

रोग इस बातका चिह्न है कि शरीरमें कहीं कुछ अपूर्णता या दुर्बलता है अथवा भौतिक प्रकृति विरोधी शक्तियोंके स्पर्शके लिये कहींसे खुली हुई है; इसके साथ ही रोगका प्रायः निम्न प्राण या भौतिक मन अथवा किसी अन्य स्थानमें किसी प्रकारके अंधकार या असामंजस्यसे संबंध रहता है।

यदि कोई श्रद्धा और योग-शक्तिसे या **भागवत शक्तिको** अंदरमें उतार लाकर रोगसे पूरी तरह छुटकारा पा सके तो यह तो बहुत ही अच्छी बात है। परन्तु एकबारगी ऐसा करना बहुधा संभव नहीं होता, कारण समग्र प्रकृति **शक्तिके** प्रति उद्घाटित नहीं होती अथवा उसका साथ देनेमें असमर्थ होती

है। हो सकता है कि मन श्रद्धालु हो और शक्तिका साथ दे, किन्तु निम्नप्राण और शरीर उसका अनुगमन न कर सकें। या, यदि मन और प्राण तैयार हों तो यह संभव है कि शरीर साथ न दे और यदि साथ दे भी तो केवल आंशिक रूपसे, कारण इसकी यह आदत है कि यह उन शक्तियोंकी, जो एक विशिष्ट रोगको पैदा करती हैं, पुकारका उत्तर देता है और प्रकृतिके जड़ भागमें जो आदत पड़ जाती है वह एक महा हठीली शक्ति है। ऐसी अवस्थाओंमें भौतिक साधनोंका आश्रय लिया जा सकता है—प्रधान साधनके तौरपर नहीं, बल्कि एक सहायताके तौरपर अथवा यह समझकर कि शक्तिकी क्रियाके लिये यह एक तरहका स्थूल सहारा होगा। अत्यन्त तीव्र और जोरदार ओषधियोंका प्रयोग नहीं, किन्तु ऐसी ओषधियोंका प्रयोग करना चाहिये जो शरीरमें किसी प्रकारकी गड़बड़ मचाये बिना ही लाभदायक हों।

*

*   *

रोगोंके आक्रमण निम्न प्रकृतिके या विरोधी शक्तियोंके आक्रमण होते हैं, जो प्रकृतिमें किसी प्रकारकी कमजोरी देखकर, उसका कोई दरवाजा खुला पानेपर अथवा उसका कुछ भी सहयोग मिलनेपर अंदर आ घुसते हैं—ऐसी अन्य सब वस्तुओंकी तरह जो हमारे अंदर आती हैं पर जिन्हें हमें निकाल बाहर कर देना होता है, ये रोग भी हमारे अंदर बाहरसे ही आते हैं। जब ये आते हैं तभी यदि कोई इनके आनेका अनुभव कर सके और इनके शरीरमें प्रवेश करनेके पहले ही इन्हें दूर फेंक देनेकी शक्ति और अभ्यास उसमें हो जाय तो ऐसा व्यक्ति रोगसे मुक्त रह सकता है। और जब यह आक्रमण अंदरसे उठता हुआ दिखायी देता है तब भी यही समझना चाहिये कि यह आया तो बाहरसे ही है पर अवचेतनामें प्रवेश करनेसे पहले पकड़ा नहीं जा सका; और एक बार जहां यह अवचेतनामें आ पहुंचा कि, वह शक्ति जो इसको वहां लायी है, जल्दी हो या देरमें, इसे अवश्य उभाड़ती ही है और तब यह शरीरको आक्रांत कर लेता है। जब तुम्हें शरीरमें घुस

आनेके अनंतर ही इसका अनुभव होता है तो यह इसलिये होता है कि, यद्यपि यह अवचेतनाके द्वारसे नहीं किन्तु सीधे ही अंदर घुस आया है फिर भी जबतक यह अभी बाहर ही था तभी तुम इसको नहीं पकड़ सके। बहुधा यह इसी तरहसे आया करता है, सामनेसे अथवा प्रायः पार्श्वसे संपात रेखामें, सीधे, सूक्ष्म प्राणमय परिवेष्टनको, जो कि हमारे संरक्षणका प्रधान कवच है, भेदन करके बलात् अंदर घुस आता है। परन्तु इसके भौतिक शरीरमें घुस सकनेके पहले ही इसे वहीं, उस प्राणमय परिवेष्टनमें ही, रोक दिया जा सकता है। इस हालतमें यह हो सकता है कि साधकको रोगका कुछ असर हो,—ऐसा हो सकता है कि ज्वरसा या जुकामसा हो जाय, परन्तु व्याधिका पूर्ण आक्रमण नहीं हो सकता। इससे भी कुछ पहले यदि इसे रोका जा सके या प्राणमय परिवेष्टन स्वयं इसका प्रतिरोध करे और अपने-आपको दृढ़, सबल और अखण्ड बनाये रखे तो फिर रोग होगा ही नहीं; इस आक्रमणका शरीरपर

कोई असर ही नहीं होगा और इसका कोई नाम-निशानतक नहीं रहेगा।

*

* *

निस्संदेह, रोगपर अंदरसे क्रिया की जा सकती है और उसे आराम किया जा सकता है। परन्तु बात यह है कि यह कार्य सदा सहज नहीं होता, कारण जड़ प्रकृति बहुत अधिक प्रतिरोध किया करती है, तमोगुणका प्रतिरोध होता ही रहता है। अतएव एक अथक लगनकी आवश्यकता होती है; आरंभमें यह प्रयास पूर्ण रूपसे व्यर्थ हो सकता है अथवा रोगके लक्षण बढ़ जा सकते हैं, पर क्रमशः अभ्यास करते-करते शरीर या किसी रोगविशेषपर नियंत्रण करनेकी उसकी शक्ति बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त रोगके आकस्मिक आक्रमणको आंतरिक साधनोंके द्वारा आराम कर लेना अपेक्षाकृत सहज है, परन्तु शरीरको ऐसा बना डालना कि भविष्यमें उसमें कभी रोग हो ही न सके, अधिक कठिन है। किसी

जीर्ण रोगका अंत:क्रियाद्वारा उपचार करना और भी अधिक कठिन होता है, वह पूर्ण रूपसे लुप्त हो जाने-के लिये तैयार ही नहीं होता, इसकी अपेक्षा शरीरकी सामयिक अस्वस्थताको दूर करना आसान होता है। जबतक शरीरपर नियंत्रण अपूर्ण है तबतक आंतरिक शक्तिके व्यवहारमें इस तरहकी तथा अन्य अपूर्णताएं और कठिनाइयां बनी ही रहेंगी।

यदि तुम आंतरिक क्रियासे रोगका बढ़ना भर भी अटका सको तो यह भी एक प्राप्ति है; तब तुम्हें अभ्यासके द्वारा अपनी शक्तिको उस समयतक बढ़ाते रहना है जबतक कि वह इस योग्य न हो जाय कि वह रोगको आराम कर सके। ध्यान रहे कि जबतक यह शक्ति पूर्ण रूपसे प्राप्त न हो जाय, तबतक औषधोपचारकी सहायताके सर्वथा त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है।

* *

*

औषध तो अंतिम उपाय है, जिसका उपयोग उस समय करना पड़ता है जब कि चेतनामें कोई ऐसी चीज होती है जो **शक्तिको** प्रत्युत्तर ही नहीं देती या दिखौआ प्रत्युत्तर देती है। बहुधा स्थूलगत चेतनाका ही कोई भाग ऐसा होता है जो विमुख रहता है—या किसी समय, जब कि समग्र जागृत मन, प्राण और शरीरतक भी उस मुक्तिदायी प्रभावको स्वीकार कर लेते हैं तब यह अवचेतना एक ऐसी चीज है जो मार्गमें बाधा डालती है। यदि अवचेतना भी प्रत्युत्तर देने लगे तब तो **शक्तिका** साधारणसा स्पर्श भी किसी रोग-विशेषको न केवल आराम कर सकता है बल्कि भविष्यके लिये रोगके उस विशिष्ट प्रकार या रूपको यथार्थतः असंभव बना सकता है।

*

*   *

रोगके बारेमें तुम्हारी जो परिकल्पना है वह एक भयानक सिद्धान्त है—कारण रोग तो एक ऐसी वस्तु है जिसे निकाल बाहर करना है, न कि उसे स्वीकार

करना या उसका भोग करना। सत्तामें कोई चीज ऐसी होती है जो रोगमें सुख भोगती है, व्याधिकी पीड़ाको भी, दूसरी किसी भी पीड़ाकी तरह, सुखके रूपमें बदल देना संभव है; क्योंकि पीड़ा और सुख ये दोनों ही इनका मूल स्वरूप जो **आनन्द** है उसकी अधोवस्थाएं हैं,अतः इन दोनोंको एक दूसरेके रूपमें परिणत किया जा सकता है या फिर इन दोनोंको ही ऊपर उठाकर उन्हें उनके मूल तत्त्व **आनन्द**को प्राप्त कराया जा सकता है। यह भी ठीक है कि बीमारीको स्थिरता, समता और धैर्यके साथ सहन करनेकी शक्ति साधकमें होनी ही चाहिये, और क्योंकि बीमारी आ ही गयी है अतः यह मान लेना भी कि "मैं बीमार हूं" इसी भावसे होना चाहिये कि "यह भी एक अनुभव है, जिसे जगत्‌के अनुभवोंमेंसे गुजरते हुए मुझे प्राप्त कर लेना है।" किन्तु इसको स्वीकृति देना और इसमें सुख भोगना, इसका तो यह अर्थ होगा कि इसे शरीरमें ठहरनेके लिये सहायता दी जा रही है, ऐसा करनेसे काम नहीं चलेगा; कारण जैसे काम, क्रोध, ईर्षा आदि प्राण

प्रकृतिके विकृत रूप हैं और भ्रांति, पक्षपात तथा मिथ्योपचार मनोमय प्रकृतिके विकृत रूप हैं वैसे ही रोग भौतिक प्रकृतिका विकृत रूप है। इन सबको निकाल बाहर करना होगा और इनका त्याग करना इनको मिटा देनेकी पहली शर्त्त है और इनको स्वीकार करनेसे सर्वथा विपरीत परिणाम होता है।

* *
*

समस्त रोग, भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे पहले, सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म शरीरके ज्ञानतन्तुमय या प्राणभौतिक कोशसे होकर गुजरते हैं। यदि किसी-को सूक्ष्म शरीरका ज्ञान है या वह सूक्ष्म चेतनासे सचेतन है, तो वह रोगको रास्तेमें ही अटका सकता है और उसे भौतिक शरीरमें प्रवेश करनेसे रोक सकता है। परन्तु यह भी संभव है कि यह जब उसका ध्यान उधर न हो या जब वह निद्रामें हो तब आ जाय अथवा अवचेतनाके रास्तेसे, या जिस समय वह आत्मरक्षाके लिये असावधान हो ठीक उसी समय

एकदम आ घुसे ; ऐसी अवस्थामें इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है कि इसने शरीरपर जितना अधिकार कर लिया है वहांसे इसको मार भगाया जाय। इन आंतरिक साधनोंके द्वारा आत्मरक्षा इतनी सुदृढ़ हो सकती है कि शरीर क्रियात्मक रूपमें रोगमुक्त हो जाय। ऐसे अनेक योगी हैं जो रोगमुक्त हैं। फिर भी "क्रियात्मक रूपमें" का अर्थ "सर्वथा" नहीं है। सर्वथा रोगमुक्तता तो विज्ञानमय परिवर्तनसे ही होगी। कारण विज्ञानमय अवस्थाके नीचे जो यह रोगमुक्तता होती है वह आखिरकार बहुतसी शक्तियोंमेंसे एक **शक्तिका** ही परिणाम होता है और जो समता उसमें स्थापित हो चुकी है उसके जरा भी भंग होनेसे इस रोगमुक्तावस्थामें बाधा पड़ सकती है ; किन्तु विज्ञानमय स्थितिमें तो यह प्रकृतिका स्वाभाविक नियम ही है। विज्ञानमय तत्त्वके द्वारा दिव्यीकृत शरीरका रोगसे निर्मुक्त होना आप-से-आप होनेवाला होगा, उसकी नवीन प्रकृतिमें स्वभावतः निहित होगा।

भौतिक चेतना

मनोमय लोक तथा अन्यान्य नीचेके लोकोंमें जो **यौगिक शक्ति** है उसमें और **विज्ञानमय प्रकृतिमें** भेद है। जो वस्तु **योग-शक्तिद्वारा** मन-और-शरीर-चेतनामें प्राप्त की जाती है वह विज्ञानमय चेतनामें स्वभावत: अन्तर्निहित है और उसकी विद्यमानता उसके कहींसे प्राप्त किये जानेपर निर्भर नहीं करती, किन्तु स्वभावत: है—वह स्वत:सिद्ध है और निरपेक्ष है।